प्रकाशकः
ज्ञानोदय ग्रन्थ प्रकाशन,
नीमच (म प्र)

१६६५

प्रथम सस्करण २२००

मूल्य बारह रुपये

प्राप्ति-स्थान-

वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,
डॉ० नन्दलाल मार्ग पुरानी मण्डी,
अजमेर (राजस्थान)- ३०५००१

श्री दि० जैन मुमुक्षु-मण्डल,
श्री दि० जैन मन्दिर गली,
सराफा चौक, भोपाल
(म प्र)– ४६२००१

मुद्रक
पारस प्रिन्टर्स, नौएडा (उ प्र)

प्रकाशकीय

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय दर्शन में कर्म का सिद्धान्त प्रचलित रहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा गया है कि मिथ्यादर्शन बन्ध का कारण है। इस सम्बन्ध मे अधिकतर दार्शनिक एक मत हैं कि अज्ञान बन्ध या क्लेश का कारण है और ज्ञान मुक्ति या अविनाशी सुख का कारण है। किन्तु मत–भेद का कारण यह है कि अज्ञान का स्वरूप क्या है और उससे बन्ध कैसे होता है? इन प्रश्नो का उत्तर मनीषी विद्वान् डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने सरलता से इस पुस्तक में दिया है। शास्त्रीजी वर्तमान मे अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद के अध्यक्ष हैं। आपकी लिखी हुई अनेक विषयों की विभिन्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक जैनदर्शन की सूक्ष्मता तथा गहराई को ले कर विवेचन करने वाली है। इस मे स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादन किया गया है कि कर्मो का बन्ध होने मे मिथ्यात्व और कषाय दोनो की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। मिथ्यात्व के साथ कषाय भी अपना कार्य करती है। मिथ्यात्व के अभाव मे कषाय विधवा के समान है। इसी प्रकार अश मात्र कषाय के रहने पर सकल्प–विकल्प रूप ससार का अभाव नहीं हो सकता। अत. दोनों की भूमिका उपयोगी है।

आशा है इस पुस्तक के प्रकाशन से कर्मबन्ध के सम्बन्ध में फैल रहीं भ्रान्त धारणाओ का निराकरण होगा और समझ सम्यक् होगी।

-प्रहलादराय कासलीवाल, नीमच
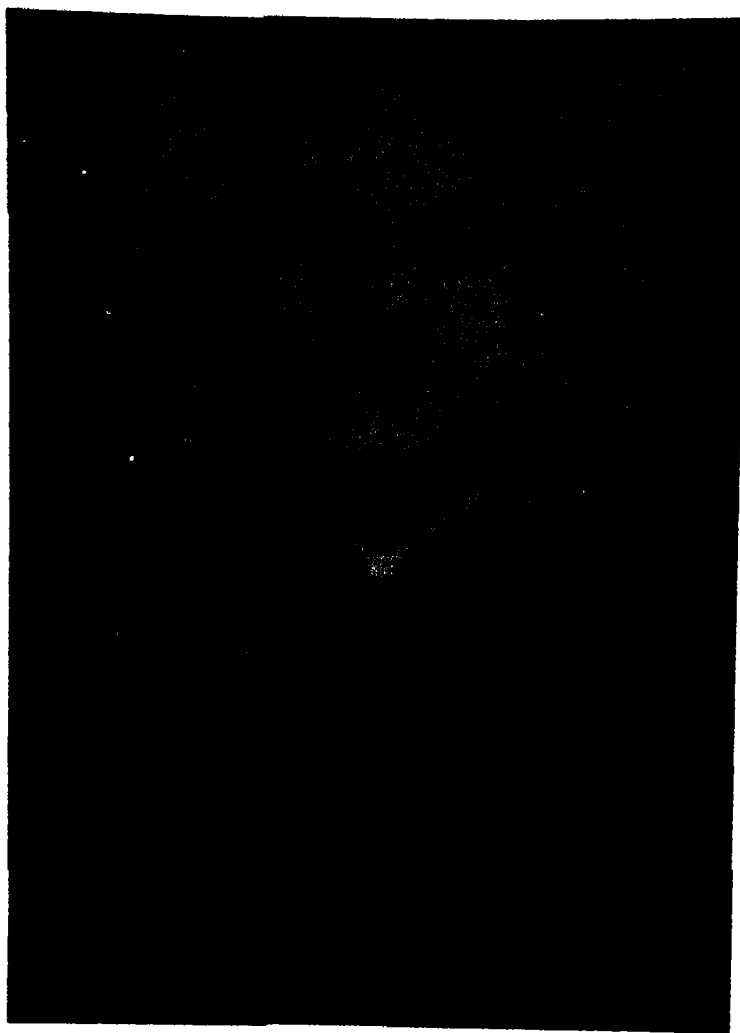
प्रमुख उद्योगपति एव समाज सेवी
लाला सुखवीरसिह जैन

प्रमुख उद्योगपति एव समाज सेवी
ला० श्री सुखवीरसिह जैन का परिचय

आपका जन्म उत्तर प्रदेश स्थित जिला मेरठ के ग्राम आजमपुर मुलसम मे लाला श्री बाबूरामजी जैन एव श्रीमती कम्पादेवी के यहॉ १ जनवरी, १६४५ को हुआ था। आप के बाबा ला० श्री बनारसीदास जैन एक प्रतिष्ठित तथा धार्मिक व्यक्ति थे। माता–पिता और बाबा से प्राप्त धार्मिक सस्कारो से बालक सुखवीरसिह का निर्माण हुआ। अत बचपन से ही स्वावलम्बन कर्तव्यनिष्ठा तथा गुरुजनो के प्रति सम्मान की भावना एव स्वाभिमान आप के जीवन मे प्रारम्भ से ही रहा है। यद्यपि आप की लौकिक शिक्षा इण्टरमीडिएट तक हुई है, किन्तु आप व्यावहारिक शिक्षा मे अत्यन्त निपुण मिलनसार व्यक्ति है।

आप के जीवन का मूल मन्त्र है– गले लगाओ, मत ठुकराओ, सभी मे भगवान है। प्रत्येक प्राणी को अपना प्राण प्यारा है। यदि तुम किसी को प्राण (जीवन) नही दे सकते हो, तो दूसरे के प्राण लेने का तुम्हे क्या अधिकार है? पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। अत गौरक्षा एव शाकाहार के प्रचार का भी आप ने बीडा उठा रखा है। अध्यवसाय तथा कर्मठता से आप का जीवन भरपूर रहा है। यही कारण है कि उत्तरप्रदेश के साधारण गॉव मे सीमित साधनो मे रह कर मेट्रिक तक शिक्षा प्राप्त करते ही आप १६५६ मे दिल्ली मे आ कर बस गये। नमक की साधारण दुकान लगा कर तथा साथ मे शिक्षा प्राप्त करते हुए आपने ऐसी आशातीत सफलता प्राप्त की कि "नमक वाले" नाम से विख्यात हो गए।

आप का जो भी कारोबार आज दिल्ली मे है, वह सब पैरो पर खडे हो कर आत्मनिर्भरता पूर्वक अपनी गाढी कमाई से स्थापित किया

है। उनमे से "जयको पाइप्स लिमिटेड" वर्तमान मे एक ख्यातिप्राप्त उद्योग है। इस प्रतिस्पर्धा के युग मे कारखाना लगा लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु ईमानदारी के साथ आज के बाजार मे अपनी साख जमा लेना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है।

लालाजी प्रसिद्ध समाजसेवी तथा साधु–सतो के भक्त है। विशेषत पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी महाराज एव समस्त मुनिवरो तथा माताजी का शुभ आशीर्वाद आप को समय–समय पर प्राप्त होता रहता है। उनके उपदेश व आदेश के अनुसार ही आप अपना जीवन ढाल रहे है। आप की धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाला जैन छाया की भॉति प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक कार्यो मे सहभागिनी तथा चिरसगिनी बन कर आप को सदा प्रेरित करती रहती हैं। यही नहीं, विद्वानो तथा बेसहारो की भी आप लगन से सेवा करते रहते है।

लालाजी की यह विशेषता है कि जो भी सामाजिक सकल्प आप लेते है, उनको पूर्ण निष्ठा के साथ पूर्ण करते है। यही कारण है कि आप अनेक प्रसिद्ध सामाजिक सस्थाओ से जुडे हुए हैं। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् के आप सरक्षक हैं। इसी प्रकार श्री दि० जैन महासमिति के शिरोमणि सरक्षक तथा भारतीय जैन मिलन के और श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र, बरनावा के भी सरक्षक हैं। आप जैन को–आपरेटिव बैंक के डायरेक्टर– कम ऑनरेरी ट्रेजरार रहे हैं। इस प्रकार आप लगनशील तथा धार्मिक कार्यो मे सदा अग्रणी रहे है।

आप के सुपुत्र श्री हरीशकुमार और राजेश कुमार दोनो ही आज्ञाकारी, विनम्र एव सौम्य प्रकृति के है। आप सब से सामाजिक तथा धार्मिक सस्थाओ को विविध अपेक्षाऍ तथा आशाऍ है। आशा है भविष्य मे आपका जीवन और भी उज्ज्वल तथा उन्नतिमय होगा।

आद्य मिताक्षर

अनादि काल से ससारी जीव राग–द्वेष–मोह भावों के कारण अनेक प्रकार के सकल्प–विकल्पों का जाल रचता आ रहा है और स्वय ही उसमे उलझ रहा है। जैनदर्शन मे इसका कारण 'कर्म' का उदय कहा गया है। 'कर्म' एक पारिभाषिक शब्द है जो जीव के विकारी भाव एवं सत्ता रूप से विद्यमान गुणो के आच्छादक 'भावकर्म' तथा 'द्रव्यकर्म' का वाचक है। भाव के विकारी हुए बिना कर्म की सृष्टि नहीं होती। कहा भी है–

"भाव एवं मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।"

अर्थात् प्राणीमात्र का अशुद्ध भाव कर्मबन्ध का कारण है और शुद्ध भाव मोक्ष का कारण है।

कर्मबन्ध का प्रमुख कारण कर्म का उदय है। कर्म के उदय का अर्थ है–अशुद्ध या विकारी भाव का उत्पन्न होना। मिथ्यात्व भी विकारी भाव है, औदयिक भाव है, इसलिये कर्मबन्ध का कारण कहा गया है। आचार्य वीरसेन स्वामी का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है–"मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण मिथ्यात्व का उदय ही है, क्योकि उसके बिना मिथ्यात्व भाव की उत्पत्ति नहीं होती है" (धवला टीका, षट्खण्डागम, पु० ५, पृ० २०७)। यदि मिथ्यात्व भाव को मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण न माना जाए, तो फिर अनन्त ससार का जनक कौन होगा? कषाय भाव मिथ्यात्व के बिना अनन्त ससार उत्पन्न नहीं कर सकते।

यह भी विचारणीय है कि यदि मिथ्यात्व को बन्ध मे अकिचित्कर कह कर उसे कर्मबन्ध का कारण न माना जाए, तो प्रथम गुणस्थान की सिद्धि कैसे होगी?

आचार्य वीरसेन स्वामी ने अनेक स्थलो पर यह प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व को अन्य भाव नहीं बाँध सकते हैं, क्योंकि अन्य भावों के होने पर वह सक्लेश परिणाम नहीं होता, जो मिथ्यात्व

का बन्ध कर सके। यही कारण है कि करणानुयोग के सभी ग्रन्थो मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि अपने–अपने स्थितिबन्ध के विशेष कारणो को छोडकर केवल उत्कृष्ट सक्लेश से सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं होता। इसमे हेतु यह है कि कर्म की प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है, इसलिये उसे कषाय से उत्पन्न होना मानने मे विरोध आता है। आचार्य वीरसेन स्वामी यह भी कथन करते हैं कि "कषाय मात्र उत्कर्षण का कारण नहीं है, अपितु तीव्र मिथ्यात्व, अरिहन्त, सिद्ध, बहुश्रुत एव आचार्य की आसादना भी कर्मबन्ध की उत्कृष्ट स्थिति के कारण है" (धवला टीका, षट्खण्डागम, पु० १०, पृ० ४२)।

यदि मिथ्यात्व से कर्मबन्ध तथा अनन्त ससार का फल नही मिलता, तो आचार्य जयसेन यह नहीं लिखते कि 'मिथ्यात्व और विषयकषाय के दुर्ध्यान से बचाने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है (समयसार, गा० ११ तात्पर्यवृत्ति)। फिर, यह कहना तो क्लिष्ट कल्पना ही है कि "अनन्तानुन्धी कषाय मिथ्यात्व की स्थिति व अनुभाग बन्ध करती है।" इस सम्बन्ध मे आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि "अनन्तानुबन्धी कषायो के उदय से सासादन गुणस्थान होने पर भी उस स्थिति मे अनन्तानुबन्धी चतुष्क को औदयिक भाव नही कहते हैं (धवला टीका, षट्खण्डागम, पु० ७, पृ० १०६)। अत यह सुनिश्चित है कि कर्म के उदय के बिना कर्म का बन्ध नहीं हो सकता। जो औदयिक भाव नही है, वह उस स्थिति मे कर्मबन्ध का करने वाला कैसे हो सकता है? ससार मे मुख्यरूप से आसक्ति करने वाला मिथ्यादृष्टि है। जैसा कि कहा है–

'तत्र मिथ्यादृशो बन्ध सम्यग्दृष्ट्या निवर्त्यते।'

–आचार्य विद्यानदि श्लोकवार्तिक, १, पृ० २६२

अर्थ– अनन्त ससार का बन्ध मिथ्यादर्शन से होता है। सम्यग्दृष्टि उससे निवृत्त हो जाता है।

धर्मानुरागी डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने "कर्मबन्ध की प्रक्रिया

मे मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका" के सम्बन्ध में आगम की दृष्टि से पर्याप्त पर्यालोचन किया है। उनके सुदृढ अध्यवसाय तथा कठोर श्रम के लिए शुभ आशीर्वाद है।

आचार्य विद्यानन्द जी
बाहुबली एन्क्लेव,
दिल्ली, ३ अगस्त, १९९५

आशीर्वचन

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच ने सिद्धान्तानुरूप सिद्धान्त–सागर से प्रज्ञा द्वारा जो अमृत निकाल कर जन साधारण के योग्य ही नहीं, किन्तु विद्वज्जनो को सोचने का एक अवसर दिया, वह अपने आप मे अद्भुत है। सबसे अलग–थलग सौम्य–प्रकृति का व्यक्तित्त्व आप मे दृष्टिगत होता है। आगम आपकी ऑख है और चारित्र आपके चरण। आपने आध्यात्मिक व सैद्वान्तिक चिन्तन के आधार पर कर्म सिद्वान्त को मनोवैज्ञानिक ढग से प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया, वह श्लाघनीय है। आपके सम्यक् प्रयास हेतु बहुत–बहुत आशीर्वाद।

समाधिवृद्धिरस्तु।

उपाध्याय गुप्तिसागर

प्राक्कथन

जैनदर्शन मे मिथ्या अभिप्राय को मिथ्यात्व और भावावेश को कषाय कहा गया है। प्राणी सामान्यत जो भी अशुद्ध भाव करता है, उससे कर्म का बन्ध होता है। राग, द्वेष, मोह भाव अशुद्ध भाव हैं। इन भावो के निमित्त से अनन्तानन्त पुद्गल–परमाणु जो कर्मरूप परिणमन करने योग्य होते हैं, वे कार्मण–वर्गणा रूप परिणमन करते हैं, जिनको द्रव्यकर्म कहा जाता है। अशुद्ध भाव का नाम भावकर्म है। इन दोनो का परस्पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। सम्बन्ध से ही कर्म को पहचाना जाता है। मूल मे कर्म भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनो प्रकार का है। उदाहरण के लिए, जगत् मे सम्बन्ध से ही पति–पत्नी हैं। यदि दोनो मे रागात्मक सम्बन्ध न हो, तो एक साथ गृहस्थी वसा कर नही रह सकते हैं। वास्तव में न तो स्त्री अपने पुरुष को बॉधती है और न पुरुष अपनी स्त्री को बॉधता है, लेकिन दोनो मे अपनेपन की बुद्धि और राग भाव (प्रेम) ही दोनो के सम्बन्ध का कारण है।

सम्पूर्ण सृष्टि सयोगी किवा सयोगवान द्रव्यो की विचित्र सर्जना है। इस रचना मे शुद्ध, निरुपाधिक, मूल रूप मे कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। वस्तु मौलिक रूप मे इन्द्रियो से ग्रहण नहीं की जा सकती है। जो भी दृश्यमान है, वह स्कन्ध–पिण्ड रूप मे दृष्टिगोचर होता है, जो मूर्तमान द्रव्यो की स्कन्ध या पिण्ड रूप अवस्था बन्ध का ही परिणाम है। जीव प्राय मिथ्या भाव रूप रासायनिक प्रक्रिया से जो क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणमन करता है, उससे ज्ञानावरण, नामकर्मादि की रचना होती है। नामकर्म से शरीर बनता है, मोह से अज्ञान का जन्म होता है। शरीर के सम्बन्ध से माता–पिता, परिवार तथा कुटुम्ब का एव उस से जगत, प्रकृति एव जीवन के अनेक सम्बन्ध स्थापित होते रहते हैं।

इन सम्बन्धो की स्थापना में मिथ्यात्व (मोह) तथा कषाय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। जो अपना नहीं है, उस में अपनेपन की बुद्धि होना मिथ्यात्व है और उस का इष्ट या अनिष्ट रूप अच्छा–बुरा लगना कषाय है। अग्रायणीय पूर्व के चौदह अधिकारों मे पॉचवे चयनलब्धि अधिकार के अन्तर्गत बीस प्राभृतों मे से चौथा कर्मप्रकृतिप्राभृत है। इसके चौबीस अधिकारों में से "षट्खण्डागम" का वर्गणा नामक पॉचवॉ खण्ड स्पर्श, कर्म और प्रकृति के अधिकारों के रूप में प्ररूपित किया गया है। बन्धन अनुयोगद्वार बन्ध, बन्धनीय, बन्धक और–बन्ध–विधान इन चार अवान्तर अनुयोगद्वारों मे विभक्त है। निबन्धन अनुयोगद्वार में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के द्वारा कर्मों और उनके मिथ्यात्व, कषाय प्रभृति प्रत्ययों की प्ररूपणा की गई है।

अविरति, आदि के आलम्बन रूप जो केवल योग या केवल कषाय ही का कार्य नहीं है, किन्तु योग और कषाय से भिन्न कर्म को लीपती है, वह लेश्या है। अत वह कषायानुविद्ध योग प्रवृत्ति है। कर्मलेप की अविनाभावी होने से 'लिम्पतीति लेश्या' ऐसी निरुक्ति की जाती है। यदि द्रव्यलेश्या के अनुसार भावलेश्या मानी जाए, तो धवल वर्ण वाले बगुले के भी भाव से शुक्ल लेश्या का प्रसग प्राप्त होगा। द्रव्यलेश्या की भॉति भावलेश्या भी छह प्रकार की होती है। भावलेश्या कर्मबन्ध की कारक होने से मिथ्यात्व रूप भी कही जाती है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे वर्तमान स्थिति में जिनागम के परिपार्श्व में हमारा मूल प्रश्न क्या होना चाहिए? क्योंकि समस्या का समाधान हुए बिना वास्तविकता का बोध होना कठिन है। अतः मूल प्रश्न यह है कि कर्मबन्ध की भूमिका क्या सर्वत्र समान है? तो उत्तर मिलेगा नहीं। कोई यह कहे कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व के निमित्त से होता है, आहारकद्विक का बन्ध संयम के निमित्त से होता है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के तीर्थंकर प्रकृति बँधनी

चाहिए, सभी सयमियो के आहारकद्विक का बन्ध होना चाहिए, किन्तु ऐसा नियम नहीं है। नियम तो यह है कि तीर्थकर प्रकृति बाँधने वाले को सम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य है। क्योकि इस योग्यता के होने पर भी बन्ध के जो कारण (रागादि) कहे गए है, बन्ध तो उन से ही होगा, अन्य से नही। इसे ही भूमिका कहते है। आगम के कथन का अभिप्राय यह है कि जिस भूमिका मे जिस कर्म का बन्ध होता है, उस मे नयदृष्टि से कारणपना स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि ऐसा न माना जाए, तो शास्त्र का कथन भी युक्तिसगत नहीं माना जाएगा।

यह कथन तो अत्यन्त स्पष्ट है कि कर्मो का ग्रहण योग (शक्ति विशेष, प्रदेशभावात्मक मिथ्यात्वादि परिणामो के निमित्त से आत्मप्रदेशो मे होने वाला परिस्पन्दन) से होता है तथा कर्मों का बन्ध भावो के निमित्त से होता है। अत ज्ञानावरणादिक कर्मों के प्रत्ययो मे कर्मों के उदय मे होने वाले विशिष्ट भावो को ही कारण कहा गया है। अत आचार्य जयसेन के अनुसार बन्ध का लक्षण मिथ्यात्व–रागादिक है। (समयसार, गा २६४, २६५)

प्रश्न है मिथ्यादृष्टि जीव किस भाव से बँधता है? उत्तर है कि मिथ्यात्व–रागादि पर भावो को अपना मानने से यह जीव कर्मो से बँधता है। (समयसार, गा ३०१)

राग–द्वेष, मोह अज्ञानी जीव के परिणाम है। अज्ञानी जीव भ्रान्त ज्ञान के वश मे हो कर विषयो मे एकत्व व राग करता है। (समयसार, गा. ३६६–३७१) दर्शनमोह के विपाक से होने वाले कलुषित परिणाम का नाम मोह है। जीव के मिथ्यात्व रागादि परिणाम का निमित्त पा कर सत्तात्मक पुराने कर्मों के साथ नये कर्म बँध जाते है। (पचास्तिकाय, गा १३४ तात्पर्यवृत्ति टीका)

आठ प्रकार के कर्मों के बन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग द्रव्यप्रत्यय है। इन चारो द्रव्यप्रत्ययो के कारण रागादि भावप्रत्यय हैं। अतएव बन्ध के कारण रागादि भाव हैं, क्योकि

रागादि भावो के अभाव मे उक्त चार द्रव्य प्रत्ययो से बन्ध नहीं होता है। (पचास्तिकाय, गा १४६) यहॉ पर 'भाव' शब्द सामान्य है जिसमे मिथ्यात्व और कषाय दोनो गर्भित हैं। यदि 'भाव' का अर्थ 'कषाय' नहीं माना जाए, तो पचास्तिकाय, गाथा १२५ से १५७ तक के २८ कथन वृथा ठहरेगे।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि बन्ध के करने वाले केवल मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले भाव ही है। यह बात आगम मे प्रसिद्ध है कि दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध, उत्कर्ष आदि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से ही नियम से होता है। किसी अन्य (चारित्रमोह) के उदय से दर्शनमोहनीय का बन्ध, उत्कर्ष, नही होता। क्योकि जिस कार्य का जो कारण नियत है अर्थात् जो अन्वय–व्यतिरेक सम्बन्ध है, उसी कारण से वह कार्य सिद्ध होता है। यदि कार्य–कारण पद्धति को उठा दिया जाए, तो फिर किसी भी कार्य की सिद्धि नही हो सकती है। इसके सिवाय सकर आदि दोषो का भी प्रसग आ जाता है। "कसायपाहुड" (गा १११) मे स्पष्ट उल्लेख है – "मिच्छत्तवेदणीए कम्मे ओवट्टिदम्मि सम्मत्ते।" अर्थात् जिस कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व परिणाम को वेदता है, उस कर्म को मिथ्यात्व कर्म कहते हैं।

सिद्धान्तकारो ने प्रथम गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का उदय कहा है। यही नहीं, उसका स्वोदय मे बन्ध भी होता है। यदि किसी अन्य कर्म के उदय से दर्शनमोह का बन्ध होने लगे, तो सदा प्रथम गुणस्थान ही रहेगा अथवा गुणस्थानों की श्रृखला विश्रृंखल हो जाएगी। (पचाध्यायी, भा २, श्लोक ६२२, ६२३)

वास्तव मे कर्मो की शक्ति अचिन्त्य है। प्रत्येक कर्म मे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग की शक्ति भरपूर है। यदि दर्शनमोह का उदय चारित्रमोह के अधीन माना जाए, तो फिर चारित्रमोह को भी किसी के अधीन मानना होगा। यदि यह कहा जाए कि चारित्रमोह अपने आप होता है, तो फिर दर्शनमोह को उस के अपने

उदय के अधीन मानना होगा। (पचाध्यायी, भा २, श्लोक ६३०)

जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगों से जो एकत्व परिणाम होता है, उसे बन्ध कहते है (धवला पु ८, पृ २)। अनन्त भवभ्रमण का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहते हैं। उस अनन्त मिथ्यात्व के साथ जो बँधती है, सम्बन्ध करती है, वह अनन्तानुबन्धी कही जाती है जो सम्यक्त्व की घातक है। (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ३०८) "तथा अनन्त मिथ्यादर्शन तदनुबन्धन अनन्तानुबन्धी"—ऐसा "सर्वार्थसिद्धि" मे भी कहा है।

जिनागम मे सर्वत्र प्रकरण तथा नय–विवक्षा के अनुसार प्रतिपादन किया गया है। अत यदि किसी प्रकरण मे यह कहा गया है कि योग के निमित्त से प्रकृति–प्रदेशबन्ध होता है और कषाय के निमित्त से स्थिति–अनुभागबन्ध होता है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि बन्ध के ये ही दो कारण हैं, इन से ही बन्ध होता है। मिथ्यात्वादि बन्ध के कारण नहीं हैं, यदि ऐसा माना जाए तो मिथ्यात्व, अविरत और प्रमाद को भी बन्ध के कारणो मे अकिचित्करता का प्रसग प्राप्त होगा जो आगम सम्मत नहीं है। यथार्थ मे एक कार्य के होने मे अनेक कारण होते हैं, कोई साधारण कारण होता है और कोई असाधारण कारण होता है। कर्मबन्ध के प्रकरण मे मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, हुण्डसस्थान, असप्राप्तासृपाटिकासहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारणशरीर नामकर्म (धवला पु ८, पृ ४२–४३) इन सोलह प्रकृतियो के बन्ध मे मिथ्यात्व भाव असाधारण कारण है। क्योकि मिथ्यादृष्टि हुए बिना कोई इन का बन्ध नहीं कर सकता है। इन प्रकृतियो का बन्ध करने में मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है, किन्तु अनन्तानुबन्धी क्रोधादिक परिणामों का होना अनिवार्य नहीं है। सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्रजी के शब्दो मे "उक्त सोलह प्रकृतियो का प्रदेशबन्ध की अपेक्षा विचार करने पर

भी इनका उत्कृष्टादि के भेद से किसी भी प्रकार का प्रदेशबन्ध क्यों न हो, उसका भी मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है। मिथ्यादृष्टि न हो और केवल योग के निमित्त से इन प्रकृतियों का किसी भी प्रकार का प्रदेशबन्ध हो जाए, ऐसा नहीं है।" (सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. २७६) इसी प्रकार स्थिति, अनुभाग बन्धादि के सम्बन्ध में भी मिथ्यादृष्टि हुए बिना उक्त सोलह प्रकृतियो का बन्ध नहीं हो सकता है।

पण्डितजी यह भी कहते हैं कि यदि कोई यह कहे कि मिथ्यादृष्टि होने पर भी योग और कषाय के अभाव मे केवल मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध नहीं होता, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। क्योकि आगम के अनुसार यह तो कहा जा सकता है कि योग और कषाय तो हो, किन्तु मिथ्यात्व न हो, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ्यात्व तो हो और योग व कषाय न हो। हॉ, कोई कहे कि मिथ्यात्व तो हो और अनन्तानुबन्धी न हो, तो यह कहना जैसे बन जाता है, वैसे ही अनन्तानुबन्धी तो हो और मिथ्यात्व न हो, गुणस्थान--भेद से यह कहना भी बन जाएगा। अत आगम के अनुसार यही मानना युक्तिसगत प्रतीत होता है कि आगम मे जो बन्ध के पॉच कारण कहे गये है, उनमे मिथ्यात्व मुख्य है। (सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. २७६)

जिनागम का यह कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञानी स्वरसत. समस्त राग से निराला रहने के स्वभाव वाला है, इसलिये वह कर्म मे पड कर भी कर्मों से लिप्त नहीं होता (समयसार, गा २१७ टीका), किन्तु अज्ञानी के सभी भाव बन्ध के कारण हैं। यथार्थ में कर्म का बन्धन अज्ञान (मिथ्यात्व और असयम) के कारण होता है, बाह्य वस्तु के कारण नहीं। (समयसार, गा. २१६ आत्मख्याति टीका)

अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्द वर्णीजी ने 'बन्धाधिकार' का सारांश प्रकट करते हुए कहा है– "निष्कर्ष यह है कि इन बाह्य साधनों से कर्मबन्ध नहीं होता, किन्तु उपयोग मे जो रागादि को

ले जाना है वह कर्मबन्ध का कारण है। जो ज्ञानी रागादि को उपयोगभूमि मे नहीं ले जाता है, ज्ञानस्वरूप रहता है, वह कर्म से नहीं बँधता। यहाँ विशेष यह जानना चाहिए कि राग से जो बन्ध होता है वह ससार को दृढ नही करता है, किन्तु राग मे राग होने से जो बन्ध होता है वह ससार को दृढ करता है। विकार में लगाव होना मोह है, मोह कृत बन्ध ससार को दृढ करता है।

अज्ञानी जीव की मान्यता परतन्त्रता की रहती है। अज्ञानी के ऐसे भाव होते है कि मै दूसरो को मारता हूँ, दूसरो से मारा जाता हूँ, मै दूसरो को जिलाता हूँ, दूसरो के द्वारा मैं जिलाया जाता हूँ, मैं दूसरो को सुख-दु ख देता हूँ, दूसरे मुझे सुख-दु ख देते हैं, इत्यादि, किन्तु ये सब भाव मिथ्या है। जीवो का मरण उनके ही आयुकर्म के क्षय से होता है। जीवो का जीवन उनके ही आयुकर्म के उदय से होता है। सुख-दु ख भी उनके ही कर्म के उदय से होता है। किसी के विकल्प से किसी अन्य जीव की परिणति नही होती, विकल्प करके प्राणी कर्मबन्ध ही करता है। उन विकल्पो मे यदि वे विकल्प पापसम्बन्धी हो, तो पाप का बन्ध होता है। यदि दया, व्रत, तप आदि के शुभ विकल्प हो, तो पुण्य का बन्ध होता है। बाह्य पदार्थ बन्ध का कारण नही है। बन्ध का कारण तो विकल्प है। विकल्प के आश्रयभूत बाह्य पदार्थ है। ज्ञान स्वभाव का अनुभव बन्ध का विनाशक है।"(समयसार, प्रस्तावना, पृ १६ से उद्धृत)।

आचार्य जयसेन के शब्दो मे "**द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति।**" (प्रवचनसार, गा ४५ तात्पर्यवृत्ति) इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है कि भावमोह मुख्य रूप से बन्ध का कारण है। फिर, आचार्य वीरसेनस्वामी का कथन यह है कि **जघन्य कषायाश स्व प्रकृति का बन्ध करने में असमर्थ है। (धवला पु ८ शास्त्राकार, पृ ५४) अतः मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण मिथ्यात्व के उदय के सिवाय**

अन्य किसी भाव से या कषाय से नहीं माना जा सकता है। इसमें प्रथम तो मुख्य कारण यह है कि मिथ्यादृष्टि मे औदयिक भाव की ही सिद्धि है। (धवला पु ५, पृ १६४) मिथ्यादृष्टि होने का कारण मिथ्यात्व का उदय ही है। मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व की उत्पत्ति नहीं होती। (धवला पु ५, पृ २०६)

औदयिक भावों मे सभी भाव मिथ्यादृष्टित्व के कारण नहीं होते। एक मिथ्यात्व का उदय ही मिथ्यादृष्टिपने का कारण है। क्योकि कुल मिलाकर ५७ प्रत्ययो मे से एक मिथ्यात्व प्रत्यय ही अनन्त ससार का कारण कहा गया है। यथा– 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनन्त ससार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। (भगवती आराधना, गा ८२ विजयोदया टीका) मूल मे राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय हैं। मिथ्यात्वादि चार तथा पॉच प्रत्यय भी बन्ध के हेतु हैं। प्राणातिपात आदि २८ प्रत्यय एव कुल मिला कर बन्ध योग्य मिथ्यात्व ५, अविरति १२, कषाय २५ और १५ योग इस प्रकार ५७ प्रत्यय है। एक समय मे पॉच मिथ्यात्वो मे से अन्यतम एक से ही मिथ्यात्व का उदय सम्भव है।

मूल विवाद का विषय यह है कि मिथ्यात्व भाव मिथ्यात्व प्रकृति की स्थिति–अनुभाग बन्ध का कारक है या नहीं? प्राकृत 'पचसग्रह' (गा ४८८, ४८६) मे यह उल्लेख किया गया है कि किस कर्मप्रकृति के अनुभागबन्ध मे कौन प्रत्यय हेतु निमित्तक है। कहा भी है– साता वेदनीय का अनुभाग बन्ध योग प्रत्यय से होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वप्रत्ययक हैं। दूसरे गुणस्थान मे बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली पच्चीस और चौथे में व्युच्छिन्नमान दश इन को मिला कर पैंतीस प्रकृतियाँ द्विप्रत्ययक हैं। क्योंकि इनका पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व की प्रधानता से और दूसरे से चौथे तक असंयम की प्रधानता से बन्ध होता है। तीर्थंकर और आहारकद्विक के बिना शेष सर्व प्रकृतियाँ त्रिप्रत्ययक हैं। क्योकि उनका पहले गुणस्थान

मे मिथ्यात्व की प्रधानता से, दूसरे से चौथे गुणस्थान मे असयम की प्रधानता से और आगे कषाय की प्रधानता से बन्ध होता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे कर्ता के बिना बन्ध नहीं होता है। यदि मोहनीय कर्म की मिथ्यात्व प्रकृति जीव को मिथ्यादृष्टि कर दे, तो साख्य मत का प्रसग होगा, क्योकि कर्म की प्रकृति स्वय कर्म करने वाली हो, तो वह स्वय उसका फल भोगने वाली होगी। आचार्य कुन्दकुन्द यही कहते हैं कि यदि मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है – ऐसा तुम्हारा मत है, तो निश्चय ही अचेतन प्रकृति मिथ्यात्व भाव की कर्ता हो गई। (समयसार, गा ३२८) किन्तु वास्तविकता यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव स्वय अज्ञान भाव से परिणमित होता है। अत भावकर्म का कर्ता अज्ञानी स्वय है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों मे –

"कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वय भवति चेतन एव नान्यः।"

(समयसारकलश २०२ तथा समयसार, गा १६५)

जीव और कर्म का अनादि से सम्बन्ध है। किसी भी कर्म ने पहले आ कर जीव को बॉधा हो या जीव ने बाद मे आ कर बॉधा हो ऐसा नहीं है। वास्तव मे दोनो एक साथ बॅधे चले आ रहे है, आगे–पीछे नहीं बॅधे हैं। ऐसा भी नहीं है कि आत्मा प्रथम शुद्ध था, बाद मे अशुद्ध हुआ। वास्तव मे अनादि काल से अशुद्ध दशा है। जैसा–जैसा कषाय भाव होता है, वैसी–वैसी योगो मे तीव्रता–मन्दता आती है और योग–शक्ति से कर्म–ग्रहण होता है। कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे यदि मिथ्यात्वजनित अज्ञान भाव न हो, तो राग, द्वेष, मोह रूप आस्रव भावो का आस्रवण (आगमन) नहीं हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रवनिमित्तक बन्ध नहीं होता। (समयसार, गा १६६)

निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे बधने वाली सभी प्रकृतियो के प्रकृति–प्रदेश–स्थिति–अनुभागबन्ध का सामान्य

कारण मिथ्यात्व है। फिर भी, बन्ध में जो तरतमता लक्षित होती है, इसका कारण विवक्षा–भेद से योग और कषाय है। सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्रजी के शब्दों में "प्रदेशबन्ध के प्रसंग से आगम में जो यह कहा गया है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान हैं। उस मे इतनी विशेषता है कि प्रकृति विशेष की अपेक्षा वे प्रदेशबन्धस्थान विशेष अधिक हैं। सो इसका अर्थ है कि भले ही योग वही रहें, पर प्रकृतिभेद के कारण जो प्रदेशबन्ध में फरक पडता है, उसका कारण प्रकृतिभेद ही है। क्योकि एक काल मे विवक्षित योग से जितनी प्रकृतियो का बन्ध होता है, उन सब प्रकृतियो मे मिलने वाले प्रदेश सब को समान नही मिलते हैं। इसका कारण योग न हो कर कथचित् प्रकृतिभेद ही इसका कारण रहता है। फिर भी यदि कोई यह माने कि यहॉ प्रकृतिभेद से उन प्रकृतियों के प्रदेशबन्ध मे योग अकिचित्कर है, प्रकृतिभेद ही उसका कारण है, तो जैसे उसका यह मानना मिथ्या है, वैसे ही बन्ध मे मिथ्यात्व को अकिचित्कर मानना भी मिथ्या ही है। इस प्रकार नय–भेद से मिथ्यात्व आदि पॉचो ही बन्ध के कारण हैं, ऐसा यहॉ वेदनाखण्ड प्रत्यय अनुयोगद्वार के अनुसार समझना चाहिए।" (आत्मानुशासन की प्रस्तावना, प फूलचन्द्र शास्त्री कृत, पृ १२ से उद्धृत)

जो आगम की दुहाई दे कर योग और कषाय को ही सर्वथा बन्ध का कारण मानना चाहते हैं, उनके मत मे मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योकि जब मिथ्यात्व से बन्ध नहीं होता है, तो उसे किसलिए 'अनन्त' माना जाता है? अनन्त ससार का बन्ध एक मात्र मिथ्यादर्शन से होता है। आचार्य विद्यानन्दि के शब्दों मे–

तत्र मिथ्यादृशो बन्ध सम्यग्दृष्ट्या निवर्त्यते। (तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक, ११) मिथ्यात्व रूप परिणाम के साथ नियम से मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध होता है। अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाला जीव जब सम्यक्त्व आदि परिणामों से च्युत हो कर यदि मिथ्यात्व

गुणस्थान में आता है, तो उसके प्रारम्भ से ही मिथ्यात्व से अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध होने पर भी एक आवलि काल तक निरन्तर अपकर्षण होने पर भी उदय–उदीरणा नहीं होती– यह नियम है। (संजोजिद अणताणुबधिणमावलियामेत्तकालमुदीरणा–भावादौ। धवला पु १५, पृ ७५) किन्तु मिथ्यात्व परिणाम निमित्तक मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध तो उस स्थिति मे भी होता है जो स्पष्टत मिथ्यात्व भाव के बिना हो नहीं सकता। क्योकि इस स्थिति मे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि परिणामो के उदय मे न होने पर भी मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध होता है। अत हमे मिथ्या कल्पना या हठवाद छोड कर आगम मे जिस प्रसग मे जिस नय–विवक्षा के अनुसार जो कथन किया गया है, उसे स्वीकार करना चाहिए। इसी मे स्व–पर का हित है।

भदन्त गुणभद्रसूरि का कथन है कि राग–द्वेष बन्ध के कारण कहे गए हैं, किन्तु वे किससे उत्पन्न होते हैं? इसका समाधान करते हुए कहते हैं–

मोहबीजादतिद्वेषौ बीजान्मूलङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा। *(आत्मानुशासन,१८२)*

अर्थात्– जिस प्रकार बीज से वृक्ष की जड तथा अकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोह (दर्शनमोह) रूपी बीज से राग–द्वेष उत्पन्न होते है। जो जीव इनका अभाव करना चाहते है, उन को ज्ञान रूपी अग्नि से मोह को दग्ध करना चाहिए।

इसका भावार्थ लिखते हुए पण्डितप्रवर टोडरमलजी कहते है–

"अतत्त्व श्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव का नाम तो मोह है। अर इष्ट–अनिष्ट पदार्थनि कौ मानि तिनि विषै प्रीति–अप्रीति करनी तिनि का नाम राग–द्वेष है। सो अतत्त्व श्रद्धान ही तैं पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासै हैं। तातै जैसै वृक्ष कै जड अर अकुरा का मूल कारण बीज है, अकुरा कौ दग्ध कीया चाहै सो वाके बीज कौं दग्ध करै। तैसैं जो राग–द्वेष का नाश कीया चाहैं सो मोह का

नाश करै। मोह का नाश भए उनका नाश सहज ही हो है। सम्यग्दृष्टी कै मोह का नाश भए पीछै कदाचित् राग-द्वेष रहे भी है, तो जैसे उपाडे रूख की जड अर अंकुरा केतैक काल हरे रहै, परन्तु शीघ्र सूखेगे, तैसै ते राग-द्वेष शीघ्र नाश कौं प्राप्त होहिंगे। बहुरि कोई मिथ्यादृष्टि कै मोह का सद्भाव होतें राग-द्वेष थोरे भी बाह्य प्रकटै तो जैसैं बीज होते जड, अंकुरे थोरे भी बाह्य दीसैं, परन्तु शीघ्र बधैंगे तैसैं राग-द्वेष शीघ्र वृद्धि कौं प्राप्त होहिंगे। तातैं राग-द्वेष का मूल कारण मोह कौं जानि तिस ही का नाश करना। सो जैसै बीज जलावने को कारण अग्नि है, तैसे मोह नाश कौ कारण ज्ञान है। ज्ञान तैं जीवादि तत्त्वनि का स्वरूप कौ यथार्थ जानै तौ अतत्त्व श्रद्धान का नाश हो है। तातैं तत्त्वज्ञान का अभ्यास विषैं तत्पर रहना। इतना किए सर्व सिद्धि स्वयमेव हो है।" (पृ १३० से उद्धृत)

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसमयं कम्म-पुग्गला विविहा।
णोकम्म-पुग्गला वि य मिच्छत्त - कसाय - संजुत्तो।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा ६७

अर्थात्– मिथ्यात्व और कषाय से युक्त ससारी जीव प्रति समय अनेक प्रकार के कर्म-पुद्गलो तथा नोकर्म पुद्गलो का बन्ध करता है और विसर्जन करता है।

कर्मबन्ध के पॉच कारणो मे मिथ्यात्व और कषाय प्रधान हैं, क्योकि ये मोहनीय कर्म के भेद है। मोहनीय सब कर्मो मे प्रधान और बलवान है। मोह (मिथ्यात्व) का आस्रव-बन्ध रुके बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता है। मोह के अभाव मे ससार परिभ्रमण का चक्र रुक जाता है।

श्री प सदासुखदास जी ने तत्त्वार्थ टीका "अर्थप्रकाशिका" मे लिखा है– "बहुरि सासादन मे मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असृपाटिकासहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, विकलत्रय की तीन, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्व्य, नरकायु

ए षोडश प्रकृति मिथ्यातभाव करि ही बधे हैं। तातै सासादनादिकनि में नहीं बंधे हैं, इनकी मिथ्यात्व ही मे व्युच्छित्ति भई, तातैं सासादन में एक सौ एक ही बन्ध योग्य हैं।" (अर्थप्रकाशिका, पृ २८३) पण्डितजी [illegible] कहते हैं कि "तहा दर्शनमोहनीय है सो बध प्रति तो एक मिथ्यात्व रूप ही है। अर उदय कूॅ अर सत्त्व कूॅ आश्रय करि मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, मिश्र ऐसे तीन प्रकार है।" (अर्थप्रकाशिका, पृ २८३)

आचार्य कुन्दकुन्द तो प्रकारान्तर से अज्ञानमय भाव को बन्ध का कारण कहते हैं। आ अमृतचन्द्र के शब्दो मे "ततो रागादिसकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वात्बन्धक ।" (समयसार, गा १६७ टीका)

प जयचन्दजी छावडा कहते हैं कि जो मिथ्यात्व सहित रागादि होता है, वही अज्ञान के पक्ष मे माना जाता है, सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञान के पक्ष मे नहीं है। इसलिये अज्ञानी के ही राग–द्वेष–मोह रूप आस्रव होते है ।

मिथ्यादृष्टि नियम से मिथ्यात्व भाव से बन्ध करता है। कहा भी है–

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः।। (समयसारकलश, १६७)

अर्थात् जो जानता है, वह करता नही है। यह जो करता है सो जानता नहीं है। करना तो वास्तव मे कर्म का राग है। राग को अज्ञानमय अध्यवसाय कहा है जो नियम से मिथ्यादृष्टि के होता है और वह बन्ध का कारण है।

अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाले के जघन्य से दश प्रत्यय होते है। उन दश प्रत्ययो मे मात्र मिथ्यात्व का उदय ही

परोदयी अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध करता है, शेष अप्रत्याख्यानादि मिथ्यात्व को नहीं बाँध सकती, क्योकि उनका अनुभाग मिथ्यात्व से अनन्त गुना हीन होता है।

वस्तुत· कर्ता–कर्म भाव के बिना जीव के कर्मबन्ध की परिपाटी नहीं चल सकती। कर्तृत्व भाव मिथ्यात्व का ही परिणाम है, इसलिये वह बन्ध का प्रमुख कारण है। सम्यग्दृष्टि के अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व नहीं होता है, इस कारण उसे अनन्त ससार नहीं होता है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि जो कर्ता है, वह ज्ञाता नहीं है और जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है। (समयसार कलश, ५१–५२) फिर, राग–द्वेष बन्ध के कारण हैं, इसका निषेध कहाँ है? समझना तो केवल इतना ही है कि तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो राग–द्वेष कोई भिन्न द्रव्य नहीं है। इस आत्मा मे जो ज्ञान है, वही अज्ञान भाव से राग–द्वेष रूप परिणमन करता है। कहा भी है–

"रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्" (समयसारकलश, २५) सभी कर्म पुद्गलजातीय २३ वर्गणाओ में से कार्मणवर्गणा से बनते हैं। जीव के आत्मप्रदेशों पर स्थित जो विस्रसोपचय रूप पुद्गल हैं, वे ही कर्म रूप से परिणत होते हैं, कर्म कहीं बाहर से आ कर नहीं बँधते हैं। यह भी जिनागम का विधान है कि जैसा–जैसा कषाय भाव होगा, वैसी–वैसी योगों मे तीव्रता–मन्दता आती है। जीव मे सामान्यतः आठ गुण होते हैं, अत· उनके आवरण रूप में कर्म भी आठ माने गए हैं। (धवला पु १२, पृ २८७)

नित्य निगोद राशि मे अक्षय, अनन्त जीव आज भी भावकर्म की प्रचुरता से सतत जन्म–मरण करते हुए व्यवहार राशि में स्थावरादि पर्याय तक प्राप्त नहीं कर रहे हैं, न प्राप्त करेंगे, क्योंकि मिथ्यात्व के तीव्र उदय में राग–द्वेष मोह जनित पर्याय में एकत्व भाव है।

यद्यपि योग तेरहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, जिस में सब से अधिक परिस्पन्द होता है, किन्तु सातावेदनीय मात्र का आस्रव होता है। वास्तव में स्थिति एक समय मात्र होने से कषाय के नष्ट

हो जाने पर भी योग रहता है। आगम मे जहाँ 'योग' से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध कहा गया है, वहाँ पर विशेष यही है कि एक योग में मिथ्यादर्शन, अविरति आदि को अन्तर्भूत कर लिया गया है। धवला पु ११, पृ. ३०६ पर लिखा है कि कषाय के बिना बंध को प्राप्त होने वाली कोई मूल प्रकृति नही पाई जाती। कषाय का उदय होने पर नामकर्म और गोत्रकर्म की अपेक्षा चार कर्मो का स्थितिबन्धाध्यवसान असख्यात गुणा है। इस अपेक्षा कर्मों के बन्ध की तरतमता की अपेक्षा प्रत्येक प्रकृति अपने बन्ध की विशेष प्रत्यय है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के कारण ही कर्म आठ तरह से परिणमन करते हैं। (धवला पु १४, सूत्र ७५८, पृ० ५५३)

निष्कर्ष यह है कि सामान्य से 'मोह' ही बन्ध का कारण है। क्योकि मोह से ही मिथ्यात्त्व और कषाय भाव होते है। वे जीव के निजस्वभाव नहीं हैं, किन्तु औपाधिक भाव है। उन भावों से नया कर्म बन्ध होता है, इसलिये मोह के उदय से उत्पन्न भाव बन्ध के कारण है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दो मे **"उनमे आत्मा को ममत्वादि रूप मिथ्यात्वादि भाव होते हैं, वही बन्ध का कारण जानना।"** (मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० २६) निश्चय ही सामान्य से एक 'मोह' बन्ध का कारण है। दो मे दर्शन मोह और चारित्र मोह तथा विशेष मे योग और कषाय बन्ध के कारण हैं। तीन मे राग–द्वेष, मोह बन्ध के कारण हैं तथा चार मे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बन्ध के कारण हैं। बन्ध के पॉच कारण है– मिथ्यात्त्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे–

मिथ्यादृष्टे : स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।

य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।। *समयसारकलश, १७०*

अर्थ– मिथ्यादृष्टि का जो यह अध्यवसाय है सो अज्ञान रूप प्रत्यक्ष दीखे है, सो ही यह अभिप्राय मिथ्या विपर्यय स्वरूप है, तातैं बन्ध का कारण है। भावार्थ यह है कि झूठा अभिप्राय सो ही मिथ्यात्व, सो ही बन्ध का कारण ऐसे जानना। (पण्डित जयचन्द)

मिथ्यात्व प्रकृति का मिथ्यात्व गुणस्थान में ही उदय पाया जाता है और उसका क्षय चौथे से लेकर चार गुणस्थानों में होता है। मिथ्यात्व का जघन्य स्थितिसंक्रम और उत्कृष्ट प्रदेशसकम होता है। तदनन्तर दो समय कम एक आवलिप्रमाण काल के व्यतीत होने पर मिथ्यात्व का जघन्य स्थितिसत्कर्म होता है। (कसायपाहुड, भाग १३, पृ० ५२) सिद्धान्त मे यह कहा गया है कि सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति के क्षीण होने पर मिथ्यात्व के प्रदेशपुज का सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व मे गुणसक्रम द्वारा सक्रम नहीं होता, विध्यात सक्रम होता है।

प्रस्तुत पुस्तक दो वर्ष तक निरन्तर किया गया स्वाध्याय एव तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है। प्रारम्भ से ही रचना का उद्देश्य खण्डन–मण्डन न हो कर अध्ययनगत उत्पन्न हुई प्रश्नावलि के समाधान का रहा है। प्रसगत जहॉ पर आगम के अभिप्राय से भिन्नता या विपरीतता भासित हुई है, उसका भी यथास्थान उल्लेख किया गया है। कुल मिला कर प्रयत्न यही रहा है कि "कर्म बन्ध" के कठिन विषय को पारिभाषिक शब्दावली के जाल से निकाल कर आगम के अभिप्राय के अनुकूल यथोचित सम्भव सरल भाषा मे सर्वजनग्राह्य बनाया गया है।

विषय गूढ तथा गहन है। अपनी मन्द बुद्धि से कर्म–मीमांसा करने का लघु प्रयास किया है। यदि कहीं कोई स्खलन हुआ हो, तो विद्वान् पण्डित मुझे अल्पधी समझ कर यथोचित सुधार कर पढ़ने की कृपा करेगे।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन मे ला. सुखवीर सिंह जी जैन, नमक वाले, ऋषभ विहार, दिल्ली जयको पाइप्स लिमिटेड तथा श्री दि० जैन मुमुक्षु–मण्डल, भोपाल वालों ने जो आर्थिक सहयोग दिया है, तदर्थ हम उनके विशेष रूप से आभारी हैं। पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज ने "आद्य मिताक्षर" लिख कर पुस्तक की जो गरिमा वृद्धि की है एवं आशीर्वाद प्रदान किया है और मुनिश्री

गुप्तिसागर जी ने जो आशीर्वचन दिए हैं, उनके लिए हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पं० श्री भुवनेन्द्रकुमार जी बादरी, पं० श्री नाथूलालजी शास्त्री, पं० धन्यकुमारजी भोरे, विदुषीरत्न विजया भिसीकर, पं० राजमलजी एवं पं० मन्नूलालजी का अत्यन्त आभार है, जिन से समय–समय पर विमर्श मिलता रहा है। माननीय माणिकचन्दजी लुहाडिया का आभार किन शब्दो में प्रकट करूँ? प्रकाशन मे उन का पूर्ण सहयोग रहा है। सुन्दर प्रकाशन के लिए पारस प्रिन्टर्स वालो का भी विशेष आभार है।

आशा है विद्वज्जन इस बुद्धिवादी युग मे आगम–सम्मत विचार–धारा को नय–प्रमाण तथा विज्ञान की कसौटी पर परख कर तदनुसार मान्य करेगे।

दि॰ ३–७–९५ **देवेन्द्रकुमार शास्त्री**

राग-द्वेष का बीजभूत मोह व्रण के समान है

मूल और अकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहे।
मोह बीज से राग–द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहे।।
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हे जला कर शान्त करो।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिला कर शान्त करो।।

–आत्मानुशासन श्लोक १८२ का पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागरजी

अनुक्रम

संसार की अवस्था

आचार्य गुणभद्र कहते हैं कि ससार की अवस्था मे सब जीव दुखी हैं। जो अपने को सुखी कहते हैं, वे भी वास्तव मे दुखी हैं। जो निर्धन है, वे सभी तरह की सामग्री से विहीन होने के कारण दुखी है तथा जो धनवान हैं, वे बढती हुई तृष्णा के कारण तृप्त नहीं होने से दुखी हैं। फिर, सभी जीव इन्द्रियो के वश मे हैं, पराधीन हैं। इसलिये उनका सुख भी पराधीन है। पराधीनता मे कभी सुख नहीं है[1]। यथार्थ मे दु ख का कारण ससार (मोह, राग–द्वेष भाव में चलना) है। ससार मे भ्रमण करने वाला जीव अशुद्ध भाव वाला है। अशुद्ध भाव से कर्मो का बन्ध होता है। इसलिये ससार का कारण आस्रव और बन्ध है। आस्रव–बन्ध का मूल कारण मिथ्यात्व है। कहा भी है[2] –ससार का मूल कारण मिथ्यात्व है। इसलिये उस का मन, वचन, काय से त्याग करना चाहिये, क्योकि वह गुण सहित बुद्धि को भी मूढ कर देता है। आचार्य जयसेन के शब्दो मे–इन आस्रव और बन्ध का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन हैं[3]।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने ससार की अवस्था का स्वरूप समझाते हुए स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि कर्मबन्ध सहित अवस्था का नाम ससार–अवस्था है। कर्मबन्धन एक रोग है। जिस प्रकार शरीर मे रोग प्रकट होते ही शरीर की अवस्था बदल जाती है, वैसे ही कर्म–व्याधि से जीव अनेक तरह के औपाधिक भावो मे घूमता रहता है। कहा भी है–

---

१. *भदन्त गुणभद्रसूरि आत्मानुशासन, श्लोक ६५–६६*

२ *ससार मूलहेदु मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि।*
बुद्धि गुणण्णिद पि मिच्छत्त मोहिद कुणदि।। भगवती आराधना, अ० ५, गा० ७२४

३ *"ससारकारणमास्रवबन्धपदार्थौ, तयोश्च कारण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रयमिति। "पंचास्तिकाय, गा० १२८–१३०, तात्पर्यवृत्ति टीका।*

"मोह नींद के जोर जगवासी घूमे सदा।
कर्मचोर चहुँ ओर, सरवस लूटें सुधि नहीं।।–*भूधरदास*

मोह सब कर्मो में बलवान है। वास्तव मे मोह सबसे बडा नशा है, जिस के आवेश मे जीव अपना सब कुछ भूल जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दो मे "इस प्रकार मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषाय भाव होते हैं, सो ये ही ससार के मूल कारण हैं। इन्हीं से वर्तमान काल मे जीव दुखी हैं और आगामी कर्मबन्ध के भी कारण ये ही हैं। तथा इन्हीं का नाम राग–द्वेष–मोह है। वहॉ मिथ्यात्व का नाम मोह है, क्योकि वहॉ सावधानी का अभाव है। तथा माया, लोभ कषाय एव हास्य, रति और तीन वेदो का नाम राग है, क्योकि वहॉ इष्ट बुद्धि से अनुराग पाया जाता है। तथा क्रोध, मान कषाय और अरति, शोक, भय, जुगुप्साओ का नाम द्वेष है, क्योकि वहॉ अनिष्ट बुद्धि से द्वेष पाया जाता है। तथा सामान्यत सभी का नाम मोह है, क्योकि इनमे सर्वत्र असावधानी पाई जाती है[४]।"

'मोह' शब्द का अर्थ-

शब्दकोष मे 'मोह' शब्द के अनेक अर्थ लक्षित होते हैं। 'अमरकोष' मे 'मोह' शब्द का अर्थ 'मूर्च्छा' का उल्लेख है। "त्रिकाण्डशेषकोष" मे इस के इन अर्थो का निर्देश है--मूर्च्छा, अविद्या, भ्रान्ति, दु ख तथा देहादिक मे आत्मबुद्धि[५]। व्याकरण की दृष्टि से 'मोह' शब्द 'मुह्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है जो 'मोहने' वाले अर्थ का वाचक है। प्राकृत के शब्दकोषो मे 'मोह' शब्द के अनेक अर्थ उपलब्ध होते है[६]—मूढता, विपरीत ज्ञान, चित्त की व्याकुलता, राग, कामक्रीडा, मूर्च्छा, मोहनीय कर्म, छन्द विशेष। इन के अतिरिक्त विशेषण के रूप मे भी दो

---

४ प टोडरमल मोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, पृ० ४१

५ पुरुषोत्तमदेव कृत सटीक त्रिकाण्डशेषकोष, तृतीय काण्ड, श्लो० ४६०

६ 'प हरगोविन्ददास शेठ पाइअसद्दमहण्णव, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, द्वितीय आवृत्ति, १९६३, पृ ७००

भिन्न अर्थों मे भी 'मोह' शब्द का प्रयोग मिलता है[7]—निष्फल और मिथ्या। जैन शब्दकोषो मे इस का उल्लेख इस प्रकार है[8]—मिथ्यात्व, मूर्च्छाभाव, स्नेह या प्रणय की तीव्रता, अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व के उदय से पर मे आत्मबुद्धि का होना। मूढता, अभिमान को भी 'मोह' कहा गया है[9]। इस मे कोई सन्देह नहीं है कि 'मोह' भ्रम मात्र है। भ्रम को ही अज्ञान–अन्धकार कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं[10]— जिस प्रकार अमृत के समान चन्द्रमा की ज्योति चारो ओर पूर्ण उदय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार रागादि भावो से रहित निर्मल आत्मज्योति मोहान्धकार को नष्ट करने वाली सदा प्रकाशमान रहो। ससार मे चारों ओर अज्ञान–अन्धकार छाया हुआ है। ज्ञान–ज्योति प्रकाशमान होते ही यह अन्धेरा भाग जाता है। अत वही सम्यक् प्रकाश है।

मोह क्या है?

वास्तव मे जो अपना नहीं है, उस मे अपनेपन का भाव होना 'मोह' है। शास्त्रीय भाषा मे पर मे एकत्व बुद्धि का नाम 'मोह' है। जो प्रत्यक्ष रूप से अपने से भिन्न पराया दिखता है, उसे हम अपना क्यो मानते है? इसका उत्तर देता हुआ जिनागम यह कहता है कि मोहनीय कर्म के उदय के कारण यह जीव पर मे ममत्व बुद्धि करता है। इसलिये 'मोह' से अभिप्राय मोहनीय कर्म से है जो वास्तविक रूप से है। 'मोह' का पूरा नाम है—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म। मिथ्यात्व मोह या दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। मोह के दो भेद कहे गए हैं— दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह धुएँ की कालिख के समान चीठा होता है, लेकिन चारित्रमोह कोयले के ससर्ग से लगने वाली कालिमा के समान होता है जो सामान्य

---

७ वही, पृ ७००

८ प बिहारीलाल जैन (सं.) बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय खण्ड, पृ ५६०

६ "मोहो मूढत्वमात्रेऽपि स्यादहम्मतिमूर्च्छयो।"— विश्वलोचनकोष, पृ. ३६७

१० समयसारकलश, श्लोक २७६

प्रयत्न से दूर हो जाती है। अत 'मोह' शब्द मुख्य रूप से दर्शनमोह का वाचक है और चारित्रमोह राग–द्वेष का वाचक है[11]। भगवन्त पुष्पदन्त–भूतबली कहते हैं कि मोहनीय कर्म आत्मा मे निबद्ध है। कारण यह है कि उस का स्वभाव जीव के सम्यक्त्व व चारित्र गुणो का घात करना है[12]।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया है कि 'मोह का अर्थ मोहनीय कर्म है। किन्तु प्रश्न यह है कि मोहनीय कर्म क्या है? इसका समाधान करते हुए आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि मोहरहित स्वभाव वाले जीव को जो मोहित करता है, वह मोहनीय कर्म है। कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली जिस अवस्था मे मिथ्यात्व और कषायभाव होते है उसे 'मोह' कहते हैं। दर्शन मोह की इस अवस्था मे जो जैसा है, उसे जीव वैसा तो मानता नहीं है और जैसा नहीं है, वैसा मानता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दो मे "सयोगरूप जो पर्याये होती है, उन पर्यायो मे अहबुद्धि धारण करता है, स्व–पर का भेद नहीं कर सकता, जो पर्याय प्राप्त करे, उस ही को आप रूप मानता है। तथा उस पर्याय मे ज्ञानादिक है, वे तो अपने गुण है और रागादिक है वे अपने को कर्म निमित्त से औपाधिक भाव हुए है। तथा वर्णादिक है, वे शरीरादिक पुद्गल के गुण है और शरीरादिक मे वर्णादिको का तथा परमाणुओ का नाना प्रकार पलटना होता है वह पुद्गल की अवस्था है सो इन सब ही को अपना स्वरूप जानता है, स्वभाव परभाव का विवेक नहीं हो सकता। इस प्रकार दर्शनमोह के उदय से जीव को अतत्त्वश्रद्धान रूप मिथ्यात्व भाव होता है। जब चारित्रमोह के उदय से इस जीव को कषाय भाव होता है, तब यह देखते–जानते हुए भी पर पदार्थों मे इष्ट–अनिष्टपना मान कर क्रोधादिक करता है"[13]। आचार्य अमितगति ने स्पष्ट रूप से मिथ्यादर्शन का 'मोह नाम से उल्लेख

---

११ क्षु ज्ञानभूषण सम्यक्त्वसारशतक, श्लोक २८ का अर्थ, पृ ६१

१२ "मोहणीयमप्पाणम्मि णिबद्ध।।४।। कुदो? सम्मत्त–चरित्ताण जीवगुणाण घायणसहावादो।" धवला पु १५ (षट्खण्डागम सतकम्म), पृ ६

१३ मोक्षमार्गप्रकाशक, दूसरा अधिकार, चतुर्थ आवृत्ति, १९७८, पृ ३८ से उद्धृत

करते हुए कहा है कि चेतन–अचेतन पदार्थों मे अपनेपन की बुद्धि रखने से मोह बढता रहता है[१४]।

मिथ्यात्व मोह -

उपर्युक्त उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि जिनागम मे सामान्यत 'मोह' शब्द 'मिथ्यात्व' के लिए प्रयुक्त मिलता है। तब प्रश्न यह है कि क्या दोनो एक है या भिन्न हैं? समाधान यह है कि दोनो भिन्न–भिन्न हैं, क्योंकि दोनो के लक्षण भिन्न–भिन्न है। आचार्य वीरसेन का कथन है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद और मिथ्यात्व के समूह का नाम 'मोह' है[१५]। वास्तव मे 'मोह' कहते ही दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनो मोह के भेदो का ग्रहण हो जाता है, किन्तु सामान्य रूप से 'दर्शनमोह' को ही 'मोह' कहा जाता है, क्योकि 'चारित्रमोह' के लिए 'राग–द्वेष' शब्द प्रचलित है। अत आ० वीरसेन स्वामी जहॉ एक ओर 'मोह' मे दोनो भेद गर्भित कर उल्लेख करते हैं, वहीं पॉच प्रकार के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सासादनसम्यक्त्व को 'मोह' कहते है[१६]। आचार्य कुन्दकुन्ददेव तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो शुद्धात्मा का लाभ नहीं होने देता है, उस लुटेरे का नाम ही मोह है। जैसे मदिरापायी बेसुध हो कर अपना सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही अपने द्रव्य, गुण, पर्याय का भान न होना, बल्कि तत्त्व के सम्बन्ध मे मूढ हो जाना, यह वास्तव मे मोह है।[१७] आचार्य नागसेन

---

१४ *सचित्ताचित्तयोर्यावद्द्रव्ययो परयोरयम्।*
आत्मीयत्वमति धत्ते तावन्मोहो विवर्धते।। योगसार, ३,३ तथा–
अन्यदीया मदीयाश्च पदार्थाश्चेतनेतरा।
एतेऽदश्चिन्तन मोहो यत किचिन्न कस्यचित्।। तत्त्वज्ञानतरगिणी, ६, १

१५ *"क्रोध–मान–माया–लोभ–हास्य–रत्यरति–शोक–भय जुगुप्सा–स्त्री– पु–नपुसकवेद–मिथ्यात्वाना समूहो मोह।"–धवला, पु. १२ (४,२,८,८), पृ २८३*

१६ *"पचविहमिच्छत्त–सम्मामिच्छत्त सासणसम्मत्त च मोहो।" – धवला, पु १४, पृ ११*

१७. *प्रवचनसार गा. ८३ तथा इष्टोपदेश, श्लोक ७*

कहते हैं कि पदार्थों का स्वरूप जैसा है, उससे बिलकुल भिन्न पदार्थों की रुचि (अर्थात् वस्तु का स्वरूप जैसा है उससे विपरीत मानना) या प्रतीति होना मोह है, क्योकि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से ऐसा परिणाम होता है[१८]। आचार्य जयसेन का अभिप्राय भी यही है, कि 'मोह' शब्द से दर्शनमोह जो मिथ्यात्वादिजनक है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए और राग–द्वेष शब्द से क्रोधादि कषायो को उत्पन्न करने वाले चारित्रमोह को समझना चाहिये[१९]। जिनागम मे सर्वत्र 'मोह' शब्द का मूल अभिप्राय मोहनीय कर्म के विपाक से उत्पन्न विकारी भाव प्रकट किया गया है[२०]। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि मोह का लक्षण तत्त्व को न जानना कहा गया है। यह लक्षण बहुत ही उपयुक्त है। तत्त्व को न जानने के कारण ही अज्ञानी प्राणी मोह मे पडता है[२१]। कहने का सार यह है कि मोहनीय कर्म के द्वारा जीव को अयथार्थ श्रद्धानरूप तो मिथ्यात्वभाव होता है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषाय होते हैं[२२]। इस प्रकार 'मोह' शब्द व्यापक है, क्योकि इस मे मिथ्यात्व और कषाय दोनो को सम्मिलित कर कहा गया है[२३]। परन्तु मिथ्यात्व मे विपरीत श्रद्धान, पर मे अहबुद्धि एकत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि, कर्तृत्व–भोक्तृत्व बुद्धि, पर्यायबुद्धि, भ्रम व अज्ञान बुद्धि होती है, जिससे राग को अपना स्वभाव मानता है, तरह–तरह की अन्यथा कल्पना कर सुख–दु ख मानता है। यही इन दोनो मे भेद

---

१८ अन्यथाऽवस्थितेष्वर्थेष्वन्यथैव रुचिर्नृणाम्।
दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते।। तत्त्वानुशासन, श्लोक ०६

१९ 'समयसार, आ अमृतचन्द्र के अनुसार गा २८२, आ जयसेन के अनुसार गा ३०५ की तात्पर्यवृत्ति टीका, प्रथम सस्करण, पृ २५४

२० आचार्य जयसेन पचास्तिकाय प्राभृत, गा १४८ की तात्पर्यवृत्ति टीका –' मोह शब्देन दर्शनमोहो गृह्यते इति।" पृ ३४६

२१ लघुतत्त्वस्फोट, पृ १६ से उद्धृत

२२ मोक्षमार्गप्रकाशक, चतुर्थ आवृत्ति, जयपुर, पृ २६

२३ "श्रद्धान चारित्र च यो मोहयति विलोपयति मुह्यतेऽनेनेति वा स मोह कर्मविशेष।"–भास्करनन्दि विरचित" तत्त्वार्थवृत्ति" ८, ४ टीका पृ ४६३

है। वास्तव मे इच्छा चारित्र मोह की पर्याय है। मोह से ही जीव अपने को सुखी–दु:खी समझता है। मोह दूर होने पर इच्छा मिट जाती है। अत इच्छा उत्पन्न करना यह मिथ्यात्व का कार्य नहीं है। मिथ्यात्व से तो जो वस्तु जैसी है, वैसी भासित नहीं होना है। दूसरे शब्दों मे अतत्त्वश्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है। जैसे दूध स्वभाव से मधुर है, किन्तु पित्तज्वर के रोगी को रोग के कारण वह स्वाद में कड़वा लगता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व रोग के कारण निज शुद्धात्मा का वीतराग, निर्विकल्प स्वरूप भासित नहीं होना और अपने को रागी–द्वेषी–मोही तरह–तरह की इच्छा, अभिलाषा रूप मानना मिथ्यात्व है– यही मोह और मिथ्यात्व मे अन्तर है।

जिनागम मे आस्रव–बन्ध का मूल कारण मिथ्यात्व कहा गया है। मिथ्यादर्शन ही नहीं, मिथ्यादर्शन के जितने भी भेद–प्रभेद हैं, वे सब बन्ध के कारण है। बन्ध का एक मात्र कारण है–मोह। मोह के दो भेद है – दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय मे जो परिणाम होते है, उन को मिथ्यात्व और चारित्रमोह के उदय में होने वाले परिणाम को कषाय कहते हैं। ये दोनों बन्ध के कारण है। मिथ्यात्व के साथ रहने वाला ज्ञान मिथ्याज्ञान या अज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र कहा गया है। इसलिये बन्ध के तीन कारण है– मिथ्यात्व, अज्ञान और असयम। बन्ध के पाच प्रत्यय भी कहे गए हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन सभी मे बन्ध का प्रमुख कारण है – मिथ्यात्व।

मिथ्यात्व किसे कहते हैं? – जो अन्तरंग मे निजात्मतत्त्व की अनुभूति तथा रुचि के विषय मे विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न कराता है और बहिरग मे परकीय शुद्धात्मतत्त्व आदि सम्पूर्ण द्रव्यो मे विपरीत अभिनिवेश उत्पन्न कराता है, उसे मिथ्यात्व कहते हैं[२४]। जीव मिथ्या परिणामो का अनुभव

---

२४ अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं बहिर्विषये तु परकीय शुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। बृहद्द्रव्यसंग्रह, गा. ३० की टीका

कर मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से विपरीत श्रद्धा करता है और यथार्थ धर्म उसे उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता, जिस प्रकार पित्तज्वर वाले रोगी को मीठा रस कडवा लगता है[२५]। मिथ्यात्व के उदय मे जीव को वस्तु–स्वरूप यथार्थ नहीं भासता है। पाण्डे श्रीराजमलजी के शब्दो मे– कोई जीव दया, व्रत, शील, सयम मे मग्न हैं, उनके शुभ कर्मबन्ध भी होता है। कोई जीव हिंसा विषय–कषाय में मग्न हैं, उनके पापबन्ध भी होता है। सो दोनो अपनी–अपनी क्रिया मे मग्न हैं। मिथ्यादृष्टि ऐसा मानते हैं कि शुभ कर्म भला, अशुभ कर्म बुरा। सो ऐसे दोनों जीव मिथ्यादृष्टि हैं, दोनों जीव कर्मबन्ध करणशील हैं[२६]। बोलचाल की भाषा मे मिथ्यात्व क्या है? झूठी कल्पना, मोह, भरम। दुनिया मे लोग भरमाये हुए हैं। परमार्थभूत सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, धर्म की श्रद्धा नहीं है। कर्म की सामग्री को इष्ट मानते हैं, कर्म मे राग भाव है। कर्म तथा पर द्रव्यो मे अपना रूप मानते हैं[२७]। मिथ्यात्व के समान ससार मे कोई महापाप नहीं है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि शरीरधारी जीवो के लिए मिथ्यात्व से बढ कर अन्य कोई अकल्याणकारी नहीं है[२८]। क्योंकि मोह (मिथ्यात्व) या अहंकार–ममकार से ही राग–द्वेष उत्पन्न होते हैं।

---

२५ मिच्छत वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि।
ण य धम्म रोचेदि हु महुर खु रस जहा जरिदो।। गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा० १७ तथा लब्धिसार, गा० १०८ एव अनगारधर्मामृत, पृ० ८६

२६ समयसारकलश, श्लोक १०१ की टीका

२७ महा धीठ दुख को वसीठ पर दर्व रूप,
अंधकूप काहू पै निवार्यो नहिं गयो है।
ऐसो मिथ्याभाव लग्यो जीव को अनादि ही को,
याही अहबुद्धि लिए नाना भाति भयो है।। समयसारनाटक, कर्ता० ११

२८ न सम्यक्त्वसम किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसम नान्यत्तनूभृताम्।। रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ३४

आचार्य गुणभद्र के शब्दो मे[29] मोह रूपी बीज से राग-द्वेष पैदा होते हैं। अतः जो राग-द्वेष का विनाश करना चाहते हैं, उन को ज्ञान रूपी अग्नि से दर्शनमोह को जला देना चाहिए। कारण यह है कि दर्शनमोह के उदय से हुआ जो अतत्त्वश्रद्धान मिथ्यादर्शन है, उस से वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं हो सकती, अन्यथा प्रतीति होती है[30]। आचार्य पूज्यपाद का यह कथन है कि जिसके उदय से यह जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख, तत्त्वार्थों के श्रद्धान करने में निरुत्सुक, हिताहित का विचार करने मे असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है[31]। मिथ्यात्वकर्म का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे धर्म उसी प्रकार नहीं रुचता है, जैसे कि चढे हुए ज्वर मे मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता है[32]। आचार्य शिवकोटि मिथ्यात्व को सबसे बड़ा विष बतलाते हुए कहते हैं कि मिथ्यात्व की अपेक्षा धतूरे का सेवन उत्तम है, क्योकि उससे उत्पन्न हुआ पागलपन जन्म-मरण को नहीं बढाता; परन्तु मिथ्यात्व का सेवन अनन्त काल तक जन्म-मरण कराता है[33]। कहा भी है- अग्नि, विष एव सर्पादि से प्राणो की हानि एक जन्म मे ही हो सकती है, किन्तु मिथ्यात्व से जन्म-जन्मान्तरो में कोटि भवो मे

---

२९ मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्य तदेतौ निदिधिक्षुणा। आत्मानुशासन, श्लोक १८२

३० पण्डित टोडरमल मोक्षमार्गप्रकाशक, चतुर्थावृत्ति, पृ० ४६

३१ "तत्र यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धान निरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्।" – सर्वार्थसिद्धि ८,९ टीका

३२ मिच्छत्त वेदतो जीवो विवरीयदसणो होइ।।
ण य धम्म रोचेदि हु महुर पि रस जहा जरिदो।। पचसग्रह, गा० ६

३३ मिच्छत्तमोहणादो धत्तूरयमोहण वर होदि।
वड्ढेदि जम्ममरण दसणमोहो दु ण दु इदर।। भगवतीआराधना, गा० ७२७

हानि होती है[३४]। इस प्रकार जिनागम मे मिथ्यात्व से सर्वोच्च हानि का वर्णन किया गया है। यही नहीं, जिस प्रकार विष से बुझा हुआ (लिप्त) बाण शरीर में प्रविष्ट होने पर जैसे वह विष सम्पूर्ण देह मे फैल कर तुरन्त प्राण हर लेता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से विंधा हुआ मनुष्य सतत तीव्र वेदनाओ का अनुभव करता है[३५]।

मिथ्यात्व का स्वरूप-

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मोहनीय कर्म के दो भेद हैं– दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद है– मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति। जिस कर्म के उदय मे जीव निज शुद्धात्म स्वरूप का भाव यथार्थ श्रद्धान नहीं कर पाता है, उसे मिथ्यात्वमोहनीय कर्म कहते हैं। वास्तव में मिथ्यात्व का यह लक्षण निमित्त की अपेक्षा कहा गया है। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि दर्शनमोह के उदय मे अर्थात् उसकी उपस्थिति मे जीव स्वय राग–द्वेष रूप परिणमन करने लगता है। यदि आप स्वय अपने को भूल कर पर मे एकत्व बुद्धि न करे, तो दर्शनमोह का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व क्या है? जैसे कर्मसहित और कर्मरहित दोनो तरह की अवस्थाओ मे जीव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसी तरह से मोह भी अपनी विकारात्मक सीमा मे स्वतन्त्र परिणमन करता है। अत कर्म सयोग दशा के सूचक हैं। उदाहरण के लिए अग्नि के सयोग मे तपेली मे रखा हुआ जल अपनी योग्यता से गर्म होता जाता है। यदि उस समय भूल से उस मे अगुलि डाल दी जाए, तो वह भी गर्म हो जाती है और क्रोध का आवेश आ जाए, तो जीव भावो मे सतप्त हो जाता है। इस प्रकार एक क्षण मे अग्नि की उष्णता, तपेली की उष्णता, जल की उष्णता, उगली की गर्मी और क्रोधाग्नि का सताप ये पाँचो

---

३४ *आग्गिविसकिण्हसप्पादियाणि दोस करति एयभवे।*
मिच्छत्त पुण दोस करेदि भवकोडिकोडीसु।।भगवती आराधना, गा० ७३०

३५ *मिच्छत्तसल्लविद्धा तिव्वाओ वेदणाओ वेदति।*
विसलित्तकडविद्धा जह पुरिसा णिप्पडीयारा।। भगवती आराधना, गा० ७३१

अपनी–अपनी सीमा मे रह कर परिणमन करते हैं। ज्ञान जब उन पाँचों को जानता हुआ मिथ्यात्व के द्वारा एकत्व बुद्धि करता है, "मैं गर्म हुआ" ऐसी मिथ्या कल्पना करता है– यही मिथ्यात्व का स्वरूप है। यदि ज्ञान अपनी सीमा मे रह कर ज्ञेय रूप से सब की यथास्थिति को जानता हुआ ज्ञाता मात्र रहे, तो मोह (मिथ्यात्व) के विलीन होने में देर नहीं लगेगी। निगोद से ले कर मोक्ष तक के सभी जीवो में केवलज्ञान शक्ति रूप से है, कर्म के निमित्त से वह प्रकट नहीं हो पाता – यही कर्म का आवरण है। आचार्य विद्यानन्दिस्वामी का कथन है[३६]– द्रव्य, क्षेत्रादि निमित्तों के वश से कर्म का परिपाक होना उदय है। यथार्थ में औदयिक भाव जीव का निज भाव है। यह कथन विभाव भाव की अपेक्षा है। जीव प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध को कषाय से करता है। काल, भव और क्षेत्र का निमित्त पा कर कर्मों का उदय होता है। वह दो प्रकार का है[३७]–सविपाक उदय और अविपाक उदय। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव तथा भाव का आश्रय पा कर कर्म अपना फल देते हैं। मिथ्यात्वादि ४७ कर्म–प्रकृतियॉ कहलाती हैं। इनका बन्ध सर्व काल सभी मिथ्यात्वी जीवो के होता है। इन को छोड कर अन्य कर्म–प्रकृतियाँ क्षेत्र, कालादि का निमित्त पा कर बन्ध, उदयादि को प्राप्त होती हैं। तदनुसार ही वे फल देती हैं। इसलिये उन के क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी जैसे नाम प्रचलित हैं। उन के कर्मरूप से उदय मे आने को कर्मोदय कहते हैं। इस को दूसरे शब्दो मे 'अपने अनुभाग रूप स्वभाव की प्रकटता का उदय'[३८] कह सकते

---

३६ "द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मपरिपाक उदय"– तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, निर्णयसागर, बम्बई, १९१८, ६,१४, पृ. ४५३

३७ जोगा पयडि– पदेसा ठिदि–अणुभाग कसायदो कुणइ।
काल–भव–खेत्तपेही उदओ सविवाग–अविवागो।। पंचसग्रह, गा० ५१३

३८. "स्वभावाभिव्यक्ति' उदय', स्वकार्यं कृत्वा कर्म रूपपरित्यागो वा।" गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० २६४ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

है। इसे ही अपना काम करके कर्मरूप छोडना भी कहा गया है[३९]।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं[४०] – जीवो के जो तत्त्व विषयक अज्ञान है, वह अज्ञान का उदय है और जो वस्तुस्वरूप का अश्रद्धान है, वह मिथ्यात्व का उदय है। इसी प्रकार जो त्याग का भाव नहीं होता, वह असंयम का उदय है, और जो मलिन उपयोग है, वह कषाय का उदय है[४१]। वस्तुत मिथ्यात्व आदि का उदय होना, नवीन पुद्‌गलो का कर्म रूप परिणमना तथा बधना एव तत्त्व का श्रद्धान न होना, आदि भावरूप परिणमना एक ही समय मे होते हैं और उनका स्वाद अतत्त्वश्रद्धान रूप से आप मे भासित होता है। प्रत्येक ससारी जीव के प्रत्येक समय मे तीनो कार्य (१) दर्शनमोह, आदि कर्म का उदय, (२) नवीन कर्म का बन्ध तथा (३) अज्ञानी जीव का स्वय मिथ्यात्वादि भाव रूप परिणमना, एक साथ होते हैं। लेकिन तीनो काम एक साथ होने पर भी तीनो स्वतन्त्र हैं। पूर्व कर्म का उदय स्वतन्त्र है और नवीन कर्म का बन्ध स्वतन्त्र है। जीव के प्रत्येक समय मे हो रहे परिणाम अपनी योग्यता से होने के कारण स्वतन्त्र ही हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि यह पौद्‌गलिक मिथ्यात्वादि के उदय हेतुभूत होने पर जो कार्मणवर्गणागत पुद्‌गल द्रव्य ज्ञानावरणादि भाव से आठ प्रकार स्वयमेव परिणमता है, वह कार्मण–वर्गणागत पुद्‌गल द्रव्य जब जीव मे निबद्ध होता है, तब जीव स्वय ही अज्ञान भाव से स्व–पर एकत्व के अध्यास के कारण स्वय तत्त्व का अश्रद्धान आदि होने से अपने अज्ञानमय परिणाम भावो का हेतु होता है[४२]।

---

३९ "उदये स्वभावाभिव्यक्तिरुदयस्तस्मिन् स्वकार्यम माडिकर्मरूप–परित्यागमुदयम्।" वही, कर्णाटवृत्ति

४० अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाण अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्त।। समयसार, गा० १३२

४१ वहीं, गा० १३३

४२ "अथैतेषु पौद्‌गलिकेणु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्‌गलद्रव्य कर्मवर्गणागत ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागत जीवनिबद्ध यत स्यात्तदा जीव स्वयमेवाज्ञानात्परा–त्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयाना तत्त्वार्थश्रद्धानादीना स्वस्य परिणाम–भावाना हेतुर्भवति।"–समयसार, गा० १३६ आत्मख्याति टीका, पृ २१४, तथा पुरुषार्थसिद्धि०, श्लो १२

उक्त गाथा का विशेषार्थ लिखते हुए मुनिश्री ज्ञानसागर महाराज कहते हैं[43]– "मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने सामान्य रूप से अज्ञान भाव को बन्ध का कारण बताया है और उस के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार उत्तरभेद किए हैं। जैसा कि आत्मख्यातिकार ने अपनी लेखनी से लिखा है और मूल ग्रन्थकार भी पहले बता आये हैं, किन्तु तात्पर्यवृत्तिकार ने अज्ञान भाव सामान्य को भी मिथ्यात्वादि चार विशेषों के साथ मिला कर पाँच प्रत्यय बन्ध के कारण होते हैं– ऐसा बताया है।" वास्तव मे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग अज्ञान के ही भेदरूप है। विपरीत अभिप्राय, मूढ़ता और सन्देह ये मिथ्यात्व के चिन्ह हैं। आगम और अनागमो मे समभाव होना सम्यङ्मिथ्यात्व का चिन्ह है। आप्त, आगम और पदार्थो की श्रद्धा मे शिथिलता व हीनता होना सम्यक्त्व प्रकृति का चिन्ह है।

वस्तुत मूल रूप मे कर्म एक है। आ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं[44]– सामान्य कर्म कर्मत्व रूप से एक है। द्रव्य और भाव के भेद से वह दो प्रकार का है। उनमे से द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्ड है। उस पिण्ड मे रहने वाली फल देने की शक्ति भावकर्म है अथवा कार्य मे कारण के उपचार से उस शक्ति से उत्पन्न हुए अज्ञान आदि भी भावकर्म हैं। श्वेताम्बरो के 'ठाणागसुत्त (३) मे मिथ्यात्व के अक्रिया, अविनय, अज्ञान इन तीन भेदो का उल्लेख है। तत्वार्थभाष्य मे दो भेद– अभिगृहीत, अनभिगृहीत एव 'धर्मसग्रह मे आभिग्रहिक, अनभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोगिक ये पॉच भेद किए गए हैं। प० आशाधरजी ने एकान्त, विनय, विपरीत, सशय और अज्ञान रूप पॉच भेदो की परम्परा प्राचीन मानी है। वास्तव मे इन मे नाम–भेद है, लक्षण–भेद नहीं है।

यथार्थ मे वस्तुस्वरूप के विषय मे विपरीत अभिप्राय (अभिनिवेश)

---

४३ समयसार, गा० १४०–१४४ तात्पर्यवृत्ति टीका का विशेषार्थ, प्रथमावृत्ति, अजमेर, पृ० १२२ से उद्धृत

४४ कम्मत्तणेण एक्क दव्व भावोत्ति होदि दुविहं तु ।पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्म तु ।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. ६, टीका द्रष्टव्य है।

होना–यही मिथ्यात्व का स्वरूप है। यही कारण है कि जिनागम मे "मिथ्यात्व" शब्द का प्रयोग प्रकरण के अनुसार नय–विवक्षा से अज्ञान, महापाप, विपरीत अभिनिवेश, तत्त्व का अश्रद्धान, परिग्रह, कर्म, ससार का मूल (बीज), मोह, आस्रव–बन्ध प्रत्यय, गुणस्थान तथा शल्य के सन्दर्भ में किया गया है। इन सब मे 'विपरीत' अभिप्राय होना और उसके निमित्त से नवीन कर्म का बन्ध होना ही मुख्य है।

एक कर्म अनेक रूपों में कैसे?

प्रश्न यह है कि ससार का मूल वस्तु–स्वरूप का अज्ञान किवा मिथ्या भाव है, तो भाव रूप से कर्म एक है और द्रव्य रूप से पुद्गल पिंड होने से एक ही है, तब फिर एक कर्म अनेक रूपो मे कैसे परिणत हो जाता है?

इस का समाधान इस प्रकार है कि जैसे द्रव्यरूप कर्म मे कोई भेद नहीं है, वैसे ही आत्मा के प्रदेशों मे स्थित कर्म रूप होने के योग्य (विस्रसोपचय) कार्मण–वर्गणाओं का भेद रहित सम्बन्ध बन्ध है। मूल मे जैसे कर्म एकरूप होता है, वैसे ही बन्ध मे मूलत कोई भेद नहीं है। फिर, यह भेद कौन डालता है? जैसे एक बार मे खाये गये एक ही अन्न का रस, रुधिर आदि सप्त धातु रूप परिणाम होता है, वैसे ही एक आत्म परिणाम से ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरण आदि अनेक भेद रूप हो जाते हैं[४५]। आचार्य अकलकदेव का कथन है कि जैसे एक ही अग्नि मे दाह, पाक, प्रताप, प्रकाश और सामर्थ्य है, उसी तरह एक ही पुद्गल मे आवरण और सुख–दु खादि मे निमित्त होने की शक्ति है, इस मे कोई विरोध नहीं है[४६]। आचार्य वीरसेनस्वामी यह कहते है कि एक कर्म अनेक प्रकृतिरूप हो जाता है। जीव स्वत ऐसी आठ शक्तियो से सयुक्त है कि मिथ्यात्व, असयम कषाय और योगरूप प्रत्ययो के आश्रय से जीव के साथ एक अवगाहना मे स्थित कार्मणवर्गणा के पौद्गलिक स्कध एक

---

४५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ३३ की सस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका, सर्वार्थसिद्धि ८, ४, तत्त्वार्थराजवार्तिक ८, ४, तत्त्वार्थवृत्ति ८, ४

४६ तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८, ४

स्वरूप होते हुए भी आठ कर्मों के आकार रूप परिणत हो जाते हैं[४७]।

वस्तुत प्रत्येक बन्ध योग्य द्रव्य मे स्वभावत ऐसी योग्यता है जो विभिन्न रूपों मे परिणमन करती है। श्री भास्करनन्दी भी यही कहते हैं कि जिस प्रकार खाये हुए अन्नादि का अनेक तरह के विकार करने मे समर्थ वात, पित्त, कफ उसे रस, रक्त आदि के परिणमन भेद को प्राप्त करा देते हैं, उसी प्रकार आत्मा के परिणाम द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल प्रवेश करते समय ही अपनी योग्यता या सामर्थ्य से आवरण, अनुभवन, मोहापादन, भवधारण, नाना जाति रूप नामकरण, गोत्र और विघ्न डालने की सामर्थ्य युक्त होने से अनेक रूप से परिणमन करते हैं[४८]। आचार्य अकलकदेव का यह भी कथन है कि जैसे मेघ का जल पात्र विशेष मे पड कर विभिन्न रसो मे परिणमन कर जाता है, उसी तरह से ज्ञान शक्ति का उपरोध होने पर ज्ञानावरण सामान्य रूप से परिणमित हो जाता है। इसी तरह अन्य कर्मों का भी मूल और उत्तर प्रकृति रूप से परिणमन हो जाता है[४९]।

मिथ्यात्व के उपादान

मिथ्यात्व का मूल उपादान 'अध्यवसान' भाव है। इस मे पर मे एकत्व बुद्धि होती है। इसके मूल गर्भ से ही अह बुद्धि, ममकार बुद्धि, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञान–ज्ञेय मूल सम्बन्धी खोटी बुद्धि होती है। मूल में सयोग तथा सयोगी भावो मे अपनत्व होना ही मिथ्या भाव है। जब यह जीव पर भावो मे और सयोगी पदार्थों मे अपनापन मानता है, तो उन से भावों

---

४७ "मिच्छत्तासजम–कसाय–जोगपच्चएहि परिणयजीवेण सह एगोगाहणाए ट्ठिदकम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खधा एयसरूवा कध जीवसबधेण अट्ठभेदमाढउक्कते? ण, मिच्छत्तासजम–कसाय–जोगपच्चयावट्ठभबलेण समुप्पण्णट्ठसत्तिसजुत्तजीवसंबधेण कम्मइयपोग्गलक्खधाण अट्ठकम्मायारेण परिणमण पडि विरोहाभावादो।"–धवला, पु. १२, सूत्र ११, (४, २, ८, ११), पृ० २८७

४८ तत्त्वार्थवृत्ति, ८, ४, पृ० ४६४ तथा– तत्त्वार्थराजवार्तिक ८, ४, पृ० ५६८

४९ तत्त्वार्थराजवार्तिक, ८१४, पृ० ५६८

मे तन्मयता, एकता स्थापित करता है, उन मे रस लेता है और उन को निज भाव रूप करने वाला मानता है, जिन से वे ही भाव विपाक समय मे उदय को प्राप्त होते हैं और यह जीव उन भाव रूप अपने आप का अनुभव करता है तथा ऐसा मानता है कि यह मेरा है, मैं इसका करने वाला हूँ, इसलिये इसका स्वामी मै हूँ। यथार्थ मे इन भावो मे 'ससार' (राग–द्वेष) की रचना हो जाती है। अत मूल मे मिथ्यात्व ससार का प्रमुख उपादान है और मिथ्यात्व के सघटक उपर्युक्त पॉच उपादान हैं। उपादान (क्षणिक) वस्तु की सहज स्वाभाविक योग्यता है। विभाव दशा मे कर्म की प्रकृति ही उसका स्वभाव कहा जाता है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है जो कारणनिरपेक्ष होता है[५०]।

प्रश्न यह है कि जीव और कर्म का अस्तित्व कैसे सिद्ध होता है? उत्तर यह है कि अब से कुछ समय पूर्व मैं भावावेश मे क्रोधित हो रहा था और अब शान्त हूँ– यह जानने वाला कौन है? 'अह' के अन्वय रूप यह जीव जाना जाता है जो ज्ञानस्वरूपी वस्तु है और जानना, देखना जिसका कार्य है, वही आत्मा है। आत्मा है, तो कर्म के सम्बन्ध से शरीरादि का जन्म–मरण है, पुनर्जन्म है, सस्कार है, वासना है जो अनादि काल से है। एक ही देहधारी किसी काल मे दरिद्री होता है और किसी काल मे श्रीमान् देखा जाता है। इससे कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है[५१]। कर्म क्या वस्तु है? आ वीरसेन स्वामी उत्तर देते है कि कर्म पुद्गल द्रव्य है। द्रव्यपिड मे जो फल देने की शक्ति है, वह भावकर्म है। प्रश्न यह है कि यदि कर्म पुद्गल द्रव्य है, तो सभी पुद्गलो मे कर्मपना होना चाहिए। इसका समाधान करते हुए आ वीरसेन स्वामी कहते हैं– नहीं, क्योकि मिथ्यात्व आदि बन्ध के कारणो के द्वारा जीव

---

५० पयडी सील सहाओ जीवगाण अणाइसबधो।
कणयोवले मल वा ताणत्थित्त सय सिद्ध।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० २

५१ "तयोरस्तित्व कुत सिद्ध? स्वत सिद्ध। अह प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मन. दरिद्रश्रीमदादिविचित्रपरिणामात् कर्मश्च तत्सिद्धे।।"– गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा. २ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

मे सम्बन्ध को प्राप्त तथा जन्म—जरा—मरण आदि कार्यों के करने मे समर्थ पुद्‌गलों के कर्मपना माना गया है[52]। आचार्य कुन्दकुन्ददेव के अनुसार परिणाम स्वय आत्मा है और वह जीवमय क्रिया है। क्रिया को कर्म माना गया है[53]। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि सभी द्रव्यों की परिणामलक्षण क्रिया अपनेपन से (निजमयता से) स्वीकार की गई है। फिर, जो क्रिया है वह पुन पुद्‌गल के द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होने से कर्म है। वस्तुत जो क्रिया कर्म रूप से परिणमने योग्य पुद्‌गलो के द्वारा स्वतन्त्र रूप से प्राप्त होती है, उसका नाम कर्म है। कर्म का ही यह कार्य है कि वह जीव के स्वभाव का पराभव कर मनुष्यादि पर्याय उत्पन्न करता है। किसी भी ससारी जीव के स्वभाव निष्पन्नक्रिया नहीं होती। कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। आचार्य जयसेन का कथन है— जिस क्रिया की परिणति मिथ्यात्व, रागादि रूप ससार है, उसे कर्म कहते हैं जो मनुष्यादि पर्याय की निष्पत्ति करने वाला है तथा अनन्त सुखादि गुणात्मक मोक्ष का कार्य करने मे असमर्थ है[54]।

कर्म क्या है?

'कर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं— क्रिया, कार्य, कर्त्ता—कर्म, पुण्य—पाप तथा वस्तुभूत अचेतन पदार्थ। कर्म के अच्छे और बुरे इन दो भेदों को तो सभी भारतीय दर्शन मानते हैं, लेकिन पुद्‌गल कर्म एक पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य है— इस अवधारणा का प्रस्थापक जैनदर्शन है। जैनदर्शन जीव और कर्म को दो पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। जैनदर्शन का कर्म—सिद्धान्त वस्तुत एक वैज्ञानिक प्रकिया है। इस प्रकिया मे कर्म को भौतिक सूक्ष्म

---

५२ मोहणीय।।८।।
मुह्यत इति मोहनीयम्। कि कम्मं? पोग्गलदव्व। जदि एवं, तो सव्वपोग्गलाणं कम्मत्तं पसज्जदे? ण, मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवे सबद्धाण जाइ—जरा—मरणादिकज्जकरणे समत्थाणं पोग्गलाणं कम्मत्तब्भुवगमादो।"
षट्खण्डागय, जीवस्थान, पु.६ (१, ६—१,६) शास्त्राकार, पृ.६
५३. प्रवचनसार, गा० १२२ तथा वही, तत्त्वप्रदीपिका टीका
५४ प्रवचनसार, गा० ११६, जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति टीका

(अविभाज्य, इन्द्रिय–अग्राह्य, अदृश्य) परमाणुमय माना गया है। कर्म–परमाणु वर्गणामय होते हैं। समान गुण वाले परमाणु–पिण्ड को वर्गणा कहते हैं। यह पाँच प्रधानजातीय स्कन्धो के रूप मे लोक के सभी प्रदेशों पर अवस्थित हो कर जीव के सभी शरीरों तथा लोक के सम्पूर्ण स्थूल भौतिक पदार्थों की कारण कही जाती है। यद्यति वर्गणा की व्यवहार करने योग्य जाति पाँच ही हैं, तथापि सभी स्थूल तथा सूक्ष्म भौतिक पदार्थों में प्रदेशों की क्रमिक वृद्धि दर्शाने के लिए तेईस भेदों के रूप मे उस का निरूपण किया गया है। कर्मवर्गणा रूप जो पुद्गल के स्कन्ध जीव के राग– द्वेषादि परिणामों के निमित्त से एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध कर ज्ञानावरणादि रूप हो जाते हैं, वे बधने के पूर्व कर्मवर्गणा कहलाते हैं और बधने पर उन को ही कर्म कहते हैं। सिद्धान्ताचार्य प कैलाशचन्द्र शास्त्री के शब्दो मे "जहॉ अन्य दर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की क्रिया को कर्म कहते हैं और इस कर्म के क्षणिक होने पर भी तज्जन्य सस्कार को स्थायी मानते हैं, वहीं जैनदर्शन का मत है कि राग–द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का द्रव्य आत्मा की ओर आकृष्ट होता है और उस के राग–द्वेष रूप परिणामो का निमित्त पा कर आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है।"[५५]

वास्तव मे यह द्रव्यकर्म की बात है। कर्म–सिद्धान्त का समस्त वर्णन द्रव्यकर्म प्रधान कहा जाता है। जिनागम का कथन है कि पॉच वर्गणाऍ ही व्यवहार योग्य हैं, अन्य नहीं। एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्त– प्रदेशी वर्गणाऍ तो नियम से ग्रहण के अयोग्य हैं। परन्तु अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाओ मे कुछ ग्रहण योग्य हैं और कुछ ग्रहण के अयोग्य हैं। उनमे से आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये ग्रहण योग्य हैं, शेष सभी ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। *(धवला, पु १४, पृ ५४५)*

यथार्थ मे पुद्गल के पिण्ड को द्रव्यकर्म तथा उस मे रहने वाली फलदान की शक्ति भावकर्म है। यहॉ पर प्रश्न यह है कि अनन्त बार

---

५५. सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, भा० १, प्रस्तावना, पृ० ३ से उदधृत

यह सुना है कि जीव और कर्म में अनादिकालीन सम्बन्ध है, किन्तु नवीन बन्ध करने में प्रेरक कौन है? जीव यदि प्रेरणा करे, तो कार्मणवर्गणा अचेतन होने से सुनती–जानती नहीं है और कार्मणवर्गणा स्वय जड़ होने से प्रेरक नहीं हो सकती है। तब फिर इनका सम्बन्ध कराने वाला कौन है?

वास्तव मे इस प्रश्न का उत्तर भावात्मक सम्बन्ध बतला कर ही दिया जा सकता है। जीव वर्तमान मे विभाव स्वभावी है और कर्म भी भाववान है। जिस समय जीव राग–द्वेष, मोह के परिणाम करता है, उसी समय पुद्गलस्कन्ध अपनी योग्यता से रागादिक परिणामो का निमित्त प्राप्त कर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय रूप परिणम जाता है, जिसे द्रव्यकर्म कहते है। वस्तुत यह द्रव्यकर्म जीव के भावकर्म के बिना उत्पन्न नहीं होता। चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यो के अनेक स्वभाव हैं। वे ही उनके भाव कहलाते हैं। भाव का अर्थ है– भवन, होना। प्रकृति, शील और स्वभाव ये कर्म के पर्यायवाची नाम हैं। ससारी जीव का स्वभाव रागादि रूप से परिणत होने का है और कर्म का स्वभाव रागादि रूप से परिणमाने का कहा जाता है। इस प्रकार जीव और कर्म का यह स्वभाव अनादिकालिक है। अत· दोनो की सत्ता अनादि काल से है। सम्बन्ध के कारण कर्मों के उदय से जीव के मोह, राग–द्वेष भाव होते है और उन भावो के निमित्त से अन्य अनेक कर्मपुद्गल–परमाणु जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं। (कर्मप्रकृति, गा २४)

पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दो मे "इस पुद्गल में ऐसी क्या शक्ति है जो चेतनानाथ को विभाव भावो मे परिणमावे है? उत्तर है– जैसे किसी पुरुष के सिर पर मन्त्र पढ कर धूलि डाल दी हो, तो वह उसके निमित्त से अपने आप को भूल कर विपरीत चेष्टा करता है। मन्त्र के निमित्त से उस धूल मे ऐसी शक्ति हो जाती है कि सयाना पुरुष भी विपरीत परिणमन करता है। उसी प्रकार इस आत्मा के प्रदेशों मे रागादि के निमित्त से बन्ध रूप हुए जो पुद्गल उन के निमित्त से यह आत्मा आप को भूल कर अनेक प्रकार विपरीत भावों से परिणमता है। इसके विभाव भावो के निमित्त से पुद्गल में ऐसी शक्ति हो जाती है जो चैतन्य पुरुष

को विपरीत परिणमाती है। इस भाँति भावकर्म से द्रव्यकर्म होता है और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता है, जिसका नाम ससार कहा जाता है।" *(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १३ टीका)*

यद्यपि जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम के परस्पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, तथापि उन के कर्ता–कर्मपना नहीं है। कहा भी है–

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।।
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।।

समयसार, गा० ८०, ८१

अर्थ– जीव के राग–द्वेष, मोह के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्म रूप मे परिणमित होते हैं। इसी प्रकार जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादि रूप परिणमन करता है। सम्बन्ध होने पर भी जीव कर्म के गुणो को नहीं करता है और उसी तरह कर्म जीव के गुणो को नहीं करता, किन्तु परस्पर निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होने से दोनो के परिणाम होते हैं। वास्तव मे जीव अपने भाव का कर्ता है, पुद्गलकर्म के किए गए भावो का कर्ता नहीं है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे यह सुनिश्चित है कि कर्म–परमाणुओ के परस्पर स्निग्ध एव रूक्ष के होने योग्य सम्मिश्रण के बिना बन्ध नहीं हो सकता है। स्निग्ध गुण धात्विक परमाणुओ का तथा रूक्ष गुण अधात्विक परमाणुओ का माना गया है। वैज्ञानिको के विश्लेषण से निश्चित हो गया है कि धातु–धातु, अधातु–अधातु, तथा धातु–अधातु परमाणु परस्पर में बँधने में समर्थ होते हैं। आगम में सर्वत्र सामान्य और विशेष दो प्रकार का कथन पाया जाता है। यह सामान्य का कथन है। उदाहरण के लिए, 'मोह' तो सामान्यत दर्शन और ज्ञान के साथ समान है, तभी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय मे 'मोहनीय' शब्द का प्रयोग लक्षित होता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय मे भी सामान्यत· दोनों मे एक ही तरह की रजना, आसक्ति या चिपकाहट है। दोनो मे एक ही तरह का विद्युत्–आकर्षण है, किन्तु विशेष मे दोनो मे भिन्नता है। यदि

इन दोनो में रंजना न हो, तो इन से बन्ध नहीं हो सकता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होने की दशा को दर्शाते हुए कहते हैं– "सो यह प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्व रूप रजना के अभाव से वीतराग है, इसका नाश नहीं होता।" (मोक्षमार्गप्रकाशक, ९वा अधिकार, पृ ३३५) इसमें द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों की परस्पर कार्यकारण की सापेक्षता तथा उन के कार्य एवं उन के अभाव मे होने वाली शुद्धता की व्यजकता को प्रकट किया गया हैं। वास्तव मे दर्शनमोह में और चारित्रमोह दोनो में 'रजना' है। इस के बिना दोनों से बन्ध नहीं हो सकता है।

"तत्त्वार्थसूत्र" (५, ३३) में स्निग्धत्व और रूक्षत्व से जो बन्ध होना कहा गया है, वह वास्तव मे पुद्‌गल से पुद्‌गल का बन्ध कहा गया है। क्योकि पुद्‌गल मे स्पर्श करने की ऐसी स्वाभाविक योग्यता है, जिस से वह बन्ध को प्राप्त होता है। चिकनापन और रूखापन ये पुद्‌गल की स्पर्श गुण की पर्याये हैं। इस स्निग्धत्व और रूक्षत्व योग्यता के द्वारा ही द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, सख्याताणुक, असख्याताणुक और अनन्ताणुक स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

कर्म का स्वरूप-

कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया है। ससारी जीव जो करता है, उसे कर्म कहते हैं। यहाँ पर क्रिया का अर्थ परिस्पन्द रूप योग–क्रिया है। प्रत्येक समय मे होने वाली इस क्रिया के निमित्त से जो पुद्‌गल परमाणु ज्ञानावरणादि भाव को प्राप्त होते हैं, उन को भी कर्म कहते हैं। ज्ञानावरणादि मे कर्म का व्यवहार करने का कारण द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्य निक्षेप के नो आगम भेद का एक भेद कर्म है[५६]। यद्यपि 'कर्म' शब्द के कई अर्थ हैं, किन्तु जिनागम के आशय के अनुसार जो क्रिया जीव को परतन्त्र करती है, मिथ्यादर्शनादि परिणाम रूप होती है अथवा

---

५६ सिद्धान्ताचार्य प. फूलचन्द्र शास्त्री कृत तत्त्वार्थसूत्र टीका, द्वितीय सस्करण, पृ २७३ से उद्धृत

दर्शन–चारित्र मोह रूप परिणाम करती है, वह कर्म है[५७]। 'कर्म' शब्द कर्ता, कर्म और भाव तीनो साधनो मे निष्पन्न होता है और प्रकरण के अनुसार तीनो का प्रयोग किया जाता है। वास्तव मे आत्मा के योग परिणामो के द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते है[५८]।

वस्तुत. प्रत्येक द्रव्य की क्रिया स्वभाव–निष्पन्न होती है, परन्तु ससारी जीव की क्रिया स्वभाव निष्पन्न नहीं है। क्योकि मोह सहित क्रिया ससार को तथा मनुष्यादि पर्याय रूप फल उत्पन्न करती है, इसलिये मोह सहित 'क्रिया' को ही यहॉ 'कर्म' कहा गया है [५९]। जिस प्रकार ज्योति के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव कर दिया जाने से दीपक ज्योति का कार्य कहा जाता है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके उत्पन्न की गई मनुष्य आदि पर्याये कर्म के कार्य हैं[६०]। इससे यह भी स्पष्ट है कि कर्म का कार्य जीव के स्वभाव को भुला कर तरह–तरह की पर्याये उत्पन्न करना है। वास्तव मे ससारी जीव का परिणाम 'कर्म' ही है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते है[६१]–कर्म से मलिन आत्मा कर्म सयुक्त परिणाम को करता है, जिस से कर्म का उपश्लेष होता है। अत परिणाम वह कर्म है। इस से यह भी फलित होता है कि ससारी जीव राग–द्वेष, मोह के परिणाम करता है, उन भावो का कर्ता है, परिणाम उसका कर्म है और उन भावो का वह स्वय अनुभव करता है।

जिन भावो से यह स्पन्दन क्रिया होती है, वह उस का सस्कार अपने पीछे छोड जाती है। क्योकि जीव की स्पन्दन क्रिया और भाव तो तत्काल निवृत्त हो जाते है, किन्तु सस्कार (अनुभाग) युक्त कार्मण पुद्गल जीव के साथ चिरकाल तक संम्बद्ध रहते है।

---

५७ द्रष्टव्य है– जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० २, पृ २७

५८ आचार्य अकलकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५, २४, ६

५९ प्रवचनसार, गा० ११६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

६० प्रवचनसार, गा ११७ तथा टीका

६१ प्रवचनसार, गा० १२१

'कर्म' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है– जो किया जाता है, वह कर्म है (यत् क्रियते तत् कर्म)। ससारी जीव के रागादि परिणाम और स्पन्दन क्रिया होती है, इसलिये ये दोनो तो कर्म ही हैं, लेकिन इन के निमित्त से कार्मणवर्गणा कर्मभाव को प्राप्त होती है, इसलिये उसे भी कर्म कहते हैं। यद्यपि पुद्गल की अनेक जातियाँ हैं, लेकिन सभी पुद्गल कर्म रूप परिणमन नहीं करते। उन मे से केवल कार्मण पुद्गल ही कर्म रूप परिणमित हो सकते हैं। उन पुद्गल वर्गणाओ की मुख्य जातियाँ २३ हैं। यथा– अणुवर्गणा, सख्याताणुवर्गणा, असख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तैजस्वर्गणा, अग्राह्य, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा,ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्ध वर्गणा। इन मे से आहारवर्गणा, तैजस्वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ही व्यवहार योग्य हैं, बँधने योग्य है। फिर भी, अन्वय–व्यतिरेक का ज्ञान कराने के लिए बन्धनीय तथा अबन्धनीय सभी कार्मणवर्गणाओ का निर्देश किया गया है[६२]।

अर्थपरिणमन क्रिया की दृष्टि से कर्म के तीन भेद किये गए हैं– प्राप्य, विकार्य और निवर्त्य। केवली भगवान के ये तीनो कर्म ज्ञान ही हैं, क्योंकि वे ज्ञान को ही ग्रहण करते हैं, ज्ञान रूप ही परिणमित होते हैं और ज्ञान रूप ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार ज्ञान ही उनका कर्म और ज्ञप्ति ही उनकी क्रिया है। ऐसा होने से केवली भगवान के बन्ध नहीं होता, क्योंकि ज्ञप्ति क्रियाबन्ध का कारण नहीं है, परन्तु ज्ञेय पदार्थों के सन्मुख वृत्ति होना (ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया) या ज्ञेय पदार्थों के प्रति परिणमित होना बन्ध का कारण है[६३]। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं–पदार्थों का एक

---

६२ षट्खण्डागम, धवला पु० १४, (५, ६, ८८), पृ० ६४

६३ "इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपितत्वाच्चार्थान परिणमतोऽगृह्णत स्तेष्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्ध सिद्धयेत्।" प्रवचनसार, गा० ५२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका। तथा–

साथ भासित होना ज्ञान है। जीव के द्वारा जो किया जा रहा है, वह कर्म है जो अनेक प्रकार का है। उस कर्म का फल सुख–दुख कहा गया है[६४]। वास्तव में जीव के द्वारा किया जाने वाला भाव स्वय को प्राप्त होने से कर्म है। वह कर्म एक प्रकार का होने पर भी द्रव्यकर्म की उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है[६५]। सक्षेप में, जीव के द्वारा किया जाने वाला भावकर्म है। उसके मुख्य दो भेद है–(१) निरुपाधिक या स्वाभाविक शुद्ध भाव रूप कर्म और (२) औपाधिक शुभाशुभ भाव रूप कर्म। व्यवहार से शुभ, अशुभ भाव के उदय को कर्म कहा जाता है। जिसे कर्म कहते हैं, वह मेरा दोष है (मेरा स्वरूप नहीं है) जो कि उदय मे आ रहा है, शुभ–अशुभ रूप है तथा मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से अनेक प्रकार के फैलाव मे फैला हुआ है[६६]।

कर्म और उस के भेद-

सामान्यत कर्म एक है। क्योकि जीव के राग–द्वेष, मोह के भाव के निमित्त से कर्म रूप परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्ध द्रव्यकर्म हैं और उस पुद्गल शक्ति से उत्पन्न अज्ञान आदि भावकर्म है। जीव के मिथ्यात्व, राग–द्वेष परिणामो के निमित्त से पुद्गलो का स्वयमेव कर्म रूप परिणमन हो जाता है[६७]। आत्मा के प्रदेशो मे जो कम्पन्न रूप क्रिया होती है और उस क्रिया के निमित्त से पुद्गल विशिष्ट परमाणुओ मे जो परिणमन होता है, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं। आचार्य कहते हैं कि जीव आत्मपरिणाम रूप भावकर्म का कर्ता है, पुद्गल परिणाम रूप द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है[६८]।

---

६४ णाण अत्थवियप्पो कम्म जीवेण ज समारद्ध।
तमणेगविध भणिद फल ति सोक्ख व दुक्ख वा।। प्रवचन०, गा० १२४

६५ "क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाण खल्वात्मा प्रतिक्षण तेन तेन भावेन भवता य तद्भाव स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात्। तत्त्वैकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम्।" वही, तत्त्वप्रदीपिका टीका

६६ समयसार, गा० ३६७–४०० तथा जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति

६७. समयसार, गा० ८०

६८ प्रवचनसार, गा० १२२ तथा तत्त्वप्रदीपिका टीका

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं[६९] कि जो जीव ससार में स्थित है, उसके राग–द्वेष–मोह रूप परिणाम होते हैं। उन भावो से कर्मों का बन्ध होता है। कर्मों के कारण नरक आदि गतियो मे गमन होता है। गति में जाने पर शरीर की प्राप्ति होती है। शरीर से इन्द्रियों की प्राप्ति होती है। इन्द्रियों के द्वारा विषयो का ग्रहण होता है। उस से राग–द्वेष उत्पन्न होते हैं, जिन से ससार मे परिभ्रमण होता है।

इस मे कोई सन्देह नहीं है कि यह लौकिक जगत् एक रगमच के समान है, जिस पर यह जीव अमूर्तिक होने पर भी मूर्तिक रूप में तरह–तरह के वेष धारण कर अज्ञान का अभिनय करता है। इस के सभी खेल पुण्य या पाप का प्रदर्शन करते हैं। समस्त हाव–भाव शुभ–अशुभ के ससूचक होते हैं। यथार्थ मे कर्म–विपाक के अनुसार ही अभिनय होता है, जिस मे नृत्य–गान करने वाले सभी मूर्तिक किंवा पुद्‌गल होते हैं। जैसे कोई बाजीगर चौराहे पर गाजे–बाजे के साथ अनेक स्वाग धारण कर ठगविद्या से लोगो को भ्रम मे डाल देता है, उसी प्रकार संसारी जीव अनादि काल से मिथ्यात्व–मोह के झकोरो से भ्रम मे भूला हुआ अनेक शरीरो को अपनाता है[७०]। मूढ और ज्ञानी दोनो देखने मे एक–सी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनो के भावो मे बडा भेद रहता है। अज्ञानी जीव ममत्व भाव के सद्‌भाव मे बन्धन को प्राप्त होता है, लेकिन ज्ञानी के समत्व होने से वह निर्बन्ध को प्राप्त होता है[७१]। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं[७२]– "मै मनुष्य हूँ, शरीर की सभी क्रियाओ को मैं करता हूँ, ग्रहण–त्याग का स्वामी हूँ"– ऐसा मानना मनुष्यव्यवहार है, किन्तु मात्र अचलित चेतना रूप आत्मा का अनुभव करना तथा चेतना मे विलास करना आत्मव्यवहार है।

मूल मे कर्म के दो भेद है– द्रव्यकर्म और भावकर्म। यथार्थ में परमाणु रूप अनन्त पुद्‌गल द्रव्यो से निष्पन्न कार्य द्रव्यकर्म है। कार्मणवर्गणा रूप

---

६९ पचास्तिकाय, गा० १२८–१३०

७०. समयसार नाटक, कर्ता–कर्म–क्रियाद्वार, २८

७१ वही, कर्ता–कर्म–क्रियाद्वार, ३३

७२ प्रवचनसार, गा० ९४ की तत्त्वप्रदीपिका टीका

पुद्गलस्कन्ध अंजन चूर्ण से भरी हुई डिब्बी के समान सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं[७३]। इसलिये आत्मा जिस क्षेत्र में, जिस काल में अशुद्ध भाव रूप परिणमित होता है, उसी क्षेत्र मे स्थित कार्मणवर्गणा रूप पुद्गलस्कन्ध उसी काल मे स्वय अपने ही भावो से जीव के प्रदेशो मे विशेष प्रकार से परस्पर अवगाह रूप से प्रविष्ट हुए कर्मपने को प्राप्त होते हैं[७४]। सामान्यत. द्रव्यकर्म आठ प्रकार का है तथा कर्म–प्रकृतियॉ एक सौ अडतालीस होने से उन भेद रूप हैं अथवा असख्यात लोकप्रमाण भेद हैं। आठ कर्मो की मूल प्रकृतियॉ हैं[७५]– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। इन आठ कर्मो मे भी घातिया और अघातिया ये दो भेद होते हैं। जो जीव के अनुजीवी गुणो का घात करते है, उन को घातिया कर्म कहते हैं। वे चार है– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय। इनके अतिरिक्त शेष आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय ये चार अघातिया कर्म हैं। घातिया कर्म जीव के सम्पूर्ण गुणो को प्रकट नहीं होने देता। जो प्रतिजीवी गुणो को घातने मे समर्थ है, वह अघातिया कर्म है। वह प्रशस्त, अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार का है। वास्तव मे वस्तु का स्वभाव भला या बुरा नहीं है। जब तक राग–द्वेष–मोह रहते हैं, तब तक यह जीव किसी को भला और किसी को बुरा समझता है। कर्म के उदय के कारण एक ही वस्तु को कोई इष्ट समझता है और कोई अनिष्ट मानता है। जीव के शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप हैं। उन दोनो के द्वारा पुद्गल मात्र भाव कर्मपने को प्राप्त होते है[७६]। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव के पुण्य–पाप भाव के निमित्त से साता–असाता, वेदनीय आदि पुद्गल मात्र परिणाम व्यवहार से जीव के कर्म कहे जाते हैं। जैसे चूहे के विष का फल देह मे सूजन, बुखार उत्पन्न होना है जो मूर्त है, वैसे ही कर्म के फल का विषय मूर्त होने

---

७३ पचास्तिकाय, गा० ६४

७४ पचास्तिकाय, गा० ६५ की समयव्याख्या टीका

७५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ७, ८

७६ पचास्तिकाय, गा० १३२

से तथा मूर्त इन्द्रियो के द्वारा अनुभव किया जाने से यह अनुमान किया जाता है कि कर्म मूर्त है[७७]।

नयों की दृष्टि में प्रत्यय-

अग्रायणीय पूर्व की पचम वस्तु चयनलब्धि के अन्तर्गत बीस प्राभृतो मे चतुर्थ प्राभृत (पाहुड) का नाम 'कर्मप्रकृति' (कम्मपयडी) है। इसमें कृति तथा वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वार हैं। इनमे से कृति तथा वेदना नामक दो अनुयोगद्वार षट्खण्डागम के 'वेदना' नाम से प्रसिद्ध चतुर्थ खण्ड मे धवला पुस्तक १० मे वर्णित हैं। वेदना नामक विधान मैं बन्ध, उदय तथा सत्त्व स्वरूप से जीव मे स्थित कर्मरूप पौद्‌गलिक स्कन्धो में कहाँ पर किस नय का कैसा प्रयोग होता है, इसे ध्यान में रख कर नयाश्रित प्रयोग प्ररूपणा के लिए इस अनुयोगद्वार की आवश्यकता बतलाई गई है। अत नैगम और व्यवहारनय के आश्रय से नोआगमद्रव्य कर्मवेदना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि के भेद से आठ प्रकार की कही गई है। इसका कारण यह है कि उन के कमश' अज्ञान, अदर्शन, सुख–दु खवेदन,मिथ्यात्व कषाय, भवधारण, शरीर–रचना, गोत्र तथा बिघ्न–बाधा रूप आठ प्रकार के कार्य देखे जाते हैं। यहाँ पर सग्रहनय की अपेक्षा से सामान्यत आठो कर्मो को एक वेदना रूप से ग्रहण किया गया है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय आदि का निषेध कर एक मात्र वेदनीय कर्म को ही वेदना स्वीकार किया गया है। यद्यपि ऋजुसूत्रनय पर्यायार्थिक है, किन्तु व्यजन पर्याय को प्राप्त द्रव्य उसका विषय होने से कोई विरोध नहीं आता है। शब्दनय की अपेक्षा कर्मोदय से उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम वेदना कहा गया है, न कि द्रव्य, क्योकि शब्दनय का विषय द्रव्य नहीं है। सूत्रो मे जहाँ एक ओर मिथ्यात्व प्रत्यय से ज्ञानावरणीय वेदना की प्ररूपणा की गई है, वहीं ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना योग प्रत्यय से प्रकृति तथा प्रदेशाग्र रूप कही गई है[७८]। इसी प्रकार शेष सातों कर्मों के विषय

---

७७ पंचास्तिकाय, गा० १३३ तथा समयव्याख्या टीका

७८ द्रष्टव्य है– धवला पु० १२, पृ. २८५ तथा २८८ एव सूत्र–सख्या ४, २, ८, १०, ४, २, ८, १२ तथा धवला पु० १४, सूत्र–सख्या ४–५–६

में प्ररूपणा की गई है। वास्तव मे निरश वस्तु का गुण–भेद से विभाग कर कथन करना ही नय का एक मात्र प्रयोजन है। उदाहरण के लिए, नैगम, व्यवहार और सग्रहनय सब बन्धो को स्वीकार करते हैं, किन्तु ऋजुसूत्रनय स्थापनाबन्ध को स्वीकार नहीं करता। लेकिन शब्दनय नामबन्ध और भावबन्ध को स्वीकार करता है। द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा में अशुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा नामबन्ध, स्थापनाबन्ध, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध ये चारो ही उसके विषय बन जाते हैं।

जिनागम मे नय के मुख्य रूप से सात भेद कहे गये हैं जो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय मे विभक्त हैं। प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है। सामान्य और विशेष दोनो ही प्रत्येक पदार्थ मे निहित है। सामान्य के दो भेद कहे गए है– तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य। जो सब स्थितियो मे समान रूप से पाया जाता है, उसे सामान्य कहते है, जैसे पृथ्वी मे 'मिट्टीपना' सामान्य है। सब तरह की गायो मे बना रहने वाला 'गायपना' तिर्यक्सामान्य है और आगे–पीछे क्रम से होने वाली तरह–तरह की पर्यायो मे रहने वाला अन्वय ऊर्ध्वतासामान्य है। सामान्य जीवद्रव्य को नहीं देखने वालो को जीव विविध रूपो मे भासित होता है, किन्तु द्रव्य का स्वरूप तो एक ही है। प्रत्येक द्रव्य मे दो अश होते हैं– द्रव्य या ध्रुव और पर्याय या क्षणिक। द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक तथा पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। नैगम, सग्रह और व्यवहार द्रव्यार्थिक नय के भेद है। पर्यायार्थिक नय के चार भेद है– ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का कहा गया है[७६]। अर्थपर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय प्रत्येक क्षण मे परिणमन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता है और अशुद्ध ऋजुसूत्रनय चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यजन पर्यायो को विषय करता है। यद्यपि नैगमनय गौण–मुख्य भाव से द्रव्य और पर्याय दोनो को ग्रहण करता है, किन्तु उपचार से विषय करता है। अत वह द्रव्यार्थिक नय का भेद माना गया है। सग्रहनय तो द्रव्यार्थिक ही है। व्यवहारनय के विषय मे ऊर्ध्वता

७६ *धवला, पु० ६, पृ० २४४ (४, २, ८, १२)*

सामान्य की अपेक्षा भेद नहीं किया जाता है, इसलिये द्रव्यार्थिक नय में इस का अन्तर्भाव हो जाता है। आगम में जो यह कथन किया गया है कि योग और कषाय नवीन कर्मबन्ध के हेतु हैं; वास्तव में यह स्थूल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से है। परन्तु सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से विचार करे, तो यह कथन नहीं बन सकता है; क्योकि ऋजुसूत्रनय का विषय द्रव्य नहीं हो सकता है। फिर भी, जिनागम का यह कथन उल्लेखनीय है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना योगप्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशाग्र रूप होती है[८०]। इस प्रकार अशुद्ध ऋजुसूत्रनय मे द्रव्य की द्रवणशीलता की विवक्षा से कथन कर सभी कर्मों का चारों प्रकार का बन्ध घटित किया गया है[८१]। क्योंकि सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय तो एक समय की सत् पर्याय को ग्रहण करता है, इसलिये उसमे कार्यकारण भाव नहीं बन सकता है। यही कारण है कि स्थूल व्यंजन पर्याय की अपेक्षा ही जिनागम का यह कथन किया गया है। वास्तव मे यहाँ पर भावनिक्षेप का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय मे किया गया है[८२]। आचार्य वीरसेन स्वामी का स्पष्ट कथन है कि जिस प्रकार भावनिक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय बन जाता है, वैसे ही उपचार से वह नैगमनय का विषय है, क्योकि मुख्य और गौण भाव से द्रव्य और पर्याय दोनो को वह ग्रहण करता है[८३]। फिर, नैगमनय का यह कथन है कि वह त्रिकालवर्ती पर्यायो को विषय करता है[८४]। अतएव वर्तमान पर्याय को विषय करने वाला ऋजुसूत्रनय का विषय भी नैगमनय का विषय बन जाता है। यही कारण है कि नैगम, सग्रह, व्यवहारनय से मिथ्यात्व आदि को बन्ध का कारण कहा गया है। इस प्रकार नैगम, सग्रह, व्यवहार इन तीनो द्रव्यार्थिक नयो की अपेक्षा मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और

---

८० धवला, पु० १२, (४, २, ८, १३), पृ० २८८

८१ वही, पु० १२, (१, १, १), पृ० २८६, २९०

८२ धवला, पु० १, पृ० १४

८३ कसायपाहुड, पु० १, पृ० २६३—२६४ तथा धवला, पु० १, पृ० १४

८४. आप्तपरीक्षा, पृ. ५

मिथ्याचारित्र बन्ध के प्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं[८५]।

जिनवाणी में सर्वत्र नय–विवक्षा से कथन किया गया है। इसलिये आठो कर्मों के द्रव्य की वेदना सज्ञा है। वेदना महाधिकार की प्ररूपणा धवला पुस्तक १०,११,१२ इन तीनो भागो में विस्तार से की गई है। वेदना के क्षेत्र को वेदनाक्षेत्र और उसके विधान को वेदनाक्षेत्र–विधान कहते हैं। इसमें तीन अनुयोगद्वार हैं– पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमासा मे कहा गया है कि ज्ञानावरण की वेदना उत्कृष्ट–अनुत्कृष्ट, जघन्य–अजघन्य, सादि–अनादि, ध्रुव–अध्रुव, ओज–युग्म, ओम–विशिष्ट, इत्यादि बारह पृच्छाएँ उत्कृष्ट पद के विषय मे होती हैं। इसी प्रकार शेष पदो मे से भी प्रत्येक पद के विषय मे बारह पृच्छाएँ करनी चाहिए। इन सब पृच्छाओ का जोड एक सौ उनहत्तर है[८६]। इन सभी की प्ररूपणा द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नय दोनो ही दृष्टि से की गई है। जैसे द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन करने पर ध्रुवपना है और पर्यायार्थिक नय से अध्रुवपना है। द्रव्यार्थिक नय का आश्रय करने पर ज्ञानावरणीय का क्षेत्र जो लोक है, वह ध्रुव देखा जाता है तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वह अध्रुव है। इसी प्रकार अन्य सातो पदो की मीमासा की गई है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी-

यह मिथ्यात्व कर्म का ही कार्य है कि वस्तु के प्रतिभासित होने पर भी सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की प्रवृत्ति बनी रहती है[८७]। यह जीव अज्ञान से निवृत्त नहीं होता। मिथ्यात्व दर्शनमोह की प्रकृति है और अनन्तानुबन्धी चारित्रमोह की प्रकृति है। 'कषाय' मोहनीय कर्मरूप है। जन साधारण 'कसने को कषाय' कहते हैं, किन्तु 'कषाय' का अर्थ है–कर्षण, जोतना, सँवारना, उत्पादन योग्य करना। 'कृषि विलेखन' धातु से 'कषाय' शब्द निष्पन्न हुआ समझना चाहिए। कहा भी है– सुख–दु ख रूपी नाना प्रकार के धान्यो को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी

---

८५ *धवला, पु० १२,(४, २, ८, १३), पृ० २८६*

८६ *धवला, पु० ११, पृ० ४*

८७ *धवला, पु० १, पृ० १४२*

क्षेत्र को जो जोतती है, फल उत्पन्न करने योग्य करती है, वह कषाय है[८८]।

वास्तव में कर्म का खेत विशाल है जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश के भेद से कर्मबन्धन के क्षेत्र में फैला हुआ है। उस मे ससारी जीव मिथ्यादर्शनादि सक्लेश परिणाम रूप बीज बोता है, जिस का फल जीव के नौकर–चाकर कोधादि कषाय नाम वाले कालान्तर मे सुख–दुःख रूप लक्षण वाले अनेक प्रकार के धान्य को प्राप्त करते हैं, जिसकी ससार रूपी मर्यादा बहुत दूर है। मोहनीय कर्म आत्मा के श्रद्धा तथा चारित्र• गुण को मोहित करता है।

अनन्त संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है। तथा जो कषायें उसकी अनुबन्धी हैं, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ हैं[८९]। यथा.र्थ मे जो समीचीन निज आत्मस्वभाव के दर्शन होने में बाधक कर्म है, वह दर्शनमोहनीय है। दर्शनमोहनीय के मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व प्रकृति ये तीन भेद हैं। मिथ्यात्व समीचीन दर्शन का प्रतिपक्ष कर्म है। बन्ध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय एक हो कर भी सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार का माना गया है। अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की प्रकृतियो मे जाति–भेद है, इसलिये उन मे परस्पर सकमण नहीं होता। चारित्रमोहनीय कर्म सच्चारित्र के होने मे बाधक है। अनन्तानुबन्धी का ही यह कार्य है कि वह व्यक्ति के स्वातन्त्र्य के अनुरूप स्वावलम्बन की धारा जीवन मे प्रस्थापित नहीं होने देती है। इस का कारण यही है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क को मिथ्यात्व का अनुबन्धी माना गया है[९०]। मनुष्य की बुद्धि प्राय श्रद्धा के पीछे चलती है। श्रद्धा अन्धी होती है। इसलिये

---

८८ *सुहदुक्खसुबहुसस्स कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स।*
ससारदूरमेर तेण कसाओत्ति णं वेंति।। गो० जीवकाण्ड, गा २८२

८९ *"अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्। तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन. क्रोधमानमायालोभाः।" सर्वार्थसिद्धि, ८, ९, पृ० ३८९, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम सस्करण, १९५५ ई०*

९०. *प. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री: सर्वार्थसिद्धि, प्रथम संस्करण, पृ० ३८७ से उदधृत*

यदि श्रद्धा एक बार अयोग्य अधीनता स्वीकार कर लेती है, तो सदा काल परावलम्बन का जीवन जीना पडता है। श्रद्धा बिना आश्रय के नहीं रह सकती है। लेकिन वह पर का आश्रय लेती है, क्योकि उस से सुख–भोग की प्राप्ति मानती है–यह मिथ्या मान्यता ही उसे स्वावलम्बी नहीं बनने देती है। इस प्रकार इष्ट–अनिष्ट प्रवृत्ति रूप कषाय मिथ्यात्व से अनुबन्ध कर विपरीत मार्ग का अनुसरण करती है। वह स्वावलम्बन की ज्ञानधारा का जीवन मे महत्त्व स्थापित नहीं होने देती है।

'अनन्तानुबन्धी' शब्द दो शब्दो से मिल कर बना है– 'अनन्त' और 'अनुबन्ध'। 'अनन्त' का अर्थ अनन्त ससार है। जो मिथ्यात्व के पीछे से अनन्त ससार बॉधती है, उसे 'अनन्तानुबन्धी' कहते हैं। श्री भास्करनन्दी स्पष्ट रूप से कहते हैं[६१]– अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यात्व को अनन्त कहते है। उस अनन्त को जो बॉधती है, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय है। उन का उदयकाल और भावनाकाल दोनो अन्तर्मुहूर्तप्रमाण हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कषायो का वासनाकाल क्रमश अन्तर्मुहूर्त, पक्ष, छह मास तथा सख्यात, असख्यात और अनन्तभवप्रमाण है[६२]। आचार्य विद्यानन्दी का कथन है कि अनन्तानुबन्धी कषाय की वासना अनेक वर्षो तक बनी रहती है। एक बार उग्र प्रचण्ड क्रोध करने पर उसका सस्कार सख्यात, असख्यात और अनन्त जन्मो तक वसा रहता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन का छह महीने, पन्द्रह दिन और अन्तर्मुहूर्त तक उत्तरोत्तर पर्याय मे परिणत होने का सस्कार रहता है[६३]।

---

६१ *"तत्र अनन्तससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्। तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा कथ्यन्ते। तेषामुदयकालोऽन्तर्मुहूर्त। तज्जनितवासनाकालस्तु सङ्खेयाऽनन्तभवा।" तत्त्वार्थवृत्ति, ८, ६, पृ० ४७५*

६२ *अतोमुहुत्तपक्ख छम्मास सखमसखमणंतभवा।*
सजलणमादियाण वासणकालो दु णियमेण।। वही, उद्धृत

६३ *प माणिकचन्द कौन्देय न्यायाचार्य द्वारा सम्पादित "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक", भा०, पृ० १६७*

'अनुबन्ध' शब्द मे 'अनु' अव्यय है जो पश्चात् या पीछे अर्थ का वाचक है। 'वाचस्पत्यकोश' मे 'अनु' का अर्थ पश्चात् है[६४]। 'अनुबन्ध' का सामान्य अर्थ 'दोष' विशेष का 'अभ्यास' है। बार–बार दोष का अनुगमन करना सामान्यत अनुबन्ध है[६५]। 'अनुबन्धी' शब्द का अर्थ भी शब्दकोशो मे सहचर, अनुगत का उल्लेख किया गया है। 'अनुबन्धी' का एक अर्थ 'तृष्णा' भी किया गया है[६६]। 'विश्वलोचनकोश' मे भी अनुवृत्ति के अर्थ मे प्रवृत्ति के पीछे चलने के लिए 'अनुबन्ध' का उल्लेख किया गया है[६७]। इससे यही अर्थ समझना चाहिए कि अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व की सहचरी है, अनुवर्तिनी है। आ अमितगति ने 'अनुबन्ध' का अर्थ अनुवर्तन रूप सम्बन्ध बताया है[६८]। जिनागम मे यह भी कहा गया है कि अनन्तानुबन्धी कषाय निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध की अपेक्षा सम्यग्दर्शन गुण का घात करती है, इसका कारण यह कहा गया है कि यह सम्यग्दर्शन का अपहरण कर लेती है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं– सब से पहले अन्तरग परिग्रह जो मिथ्यात्व है सो तत्त्वार्थ के श्रद्धान न होने का कारण कहा गया है। पण्डितप्रवर टोडरमल जी के शब्दो मे "बहुरि" पहले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ते भी उस तत्त्वार्थ का श्रद्धान के साथ ही विदा किया। कैसे है पहले कषाय? "सम्यग्दर्शनचौरा" कहिये सम्यक्त्व के चोर हैं। इनके होते सते सम्यक्त्व रहे नाहीं। इस ही वास्ते अनन्त ससार को कारन जानि इनको नाम अनन्तानुबन्धी धर्या है। इनकी वासना भी अनन्त काल ताई रहे हैं"[६९]। अनन्तानुबन्धी चारित्र मोह की

---

६४ "पश्चाद्भावे तदनु, अनुबन्धने, अनुशेते, अनुशय वाक्ये अनुकरोति।" वाचस्पत्यम्, प्रथम भाग, १९६२ ई., पृ० १६६,

६५ वही पृ०, १७६

६६ वही, पृ० १७६ तथा विश्वलोचनकोश, पृ० १८३

६७ अनुबन्ध· प्रकृत्यादेर्नश्वरेऽप्यनुयायिनि।
दोषोत्पादे शिशौ च स्यात्प्रवृत्तस्यानुवर्तने।। पृ० १८३

६८ योगसार प्राभृत, ६, २७

६९. पं रमेशचन्द्र जैन बाँझल द्वारा सम्पादित "पुरुषार्थसिद्धयुपाय," श्लो १२४, टीका, पृ० ८६

प्रकृति होने से स्वरूपाचरण चारित्र को भी घातती या रोकती है। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र दोनो का घात करने के कारण द्विस्वभावी कही जाती है। इस में सन्देह नहीं है कि अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन का घात करती है[100]। लेकिन सम्यक्त्व का घात करना यह अनन्तानुबन्धी का मुख्य कार्य नहीं है। अनन्तानुबन्धी का मुख्य कार्य स्वरूपाचरण चारित्र का घात करना है। मिथ्यात्व के साथ उस का साहचर्य सम्बन्ध होने से उपचार से वह सम्यक्त्व की घातक कही जाती है । प्राय दोनो साथ मे रहती हैं और दोनो का काल भी एक है। दोनो के द्रव्य (अधिकरण), क्षेत्र (आत्मप्रदेश), काल (उदय) एक होने पर भी भाव या कार्य दोनो भिन्न–भिन्न है। जिन कषायो के द्वारा जीव मे उत्पन्न हुए सस्कार का अनन्त भवो मे अवस्थान माना गया है अथवा जिन क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुबन्ध (विपाक) अनन्त होता है, वे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ कहलाते हैं। इसलिये 'अनन्तानुबन्ध' यह नाम अनन्त ससार का है। अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र दोनो की घातक है– यह कैसे जाना जाता है? आचार्य वीरसेन का कथन है कि सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनो का घात करने वाले अनन्तानुबन्धी क्रोधदिक न तो दर्शनमोहनीय स्वरूप है और न चारित्रमोहनीय रूप। क्योकि सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व के द्वारा ही आवरण किए जाने वाले सम्यग्दर्शन के आवरण करने मे फल का अभाव है। चारित्रमोहनीय स्वरूप तो इसलिये नहीं माना जा सकता है कि अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायो के द्वारा आवरण किए गए चारित्र के आवरण करने मे फल का अभाव है। किन्तु उन दोनो की शक्ति का घात होना सिद्ध होता है[101]। वास्तविकता तो यह है कि मिथ्यात्व के साथ उदित होने के कारण अनन्तानुबन्धी उपचार से सम्यक्त्व

---

१०० पढमो दसण घादी विदिओ पुण देसविरदिघादी य।
तदिओ सजमघादी चउत्थ जहखाय सजमो घादी।। पचसग्रह, गा॰ १३, पृ० ५५६

१०१ धवला पु० ६, (१, ६–१, २३) शास्त्राकार, पृ० २१–२२

की घातक कही जाती है। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दो में[102]– "यहाँ प्रश्न है कि अनन्तानुबन्धी तो चारित्रमोह की प्रकृति है, सो चारित्र का घात करे, इससे सम्यक्त्व का घात किस प्रकार सम्भव है?

समाधान– अनन्तानुबन्धी के उदय से क्रोधादि रूप परिणाम होते हैं, कुछ अतत्त्वश्रद्धान नहीं होता, इसलिये अनन्तानुबन्धी चारित्र ही का घात करती है, सम्यक्त्व का घात नहीं करती। सो परमार्थ से है तो ऐसा ही, परन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से जैसे क्रोधादिक होते हैं, वैसे क्रोधादिक सम्यक्त्व होने पर नहीं होते – ऐसा निमित्त–नैमित्तिकपना पाया जाता है। जैसे त्रसपने की घातक तो स्थावर प्रकृति ही है, परन्तु त्रसपना होने पर एकेन्द्रिय जाति प्रकृति का भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से एकेन्द्रिय प्रकृति को भी त्रसपने का घातक कहा जाये, तो दोष नहीं है। उसी प्रकार सम्यक्त्व का घातक तो दर्शनमोह है, परन्तु सम्यक्त्व होने पर अनन्तानुबन्धी कषायो का भी उदय नहीं होता, इसलिये उपचार से अनन्तानुबन्धी को भी सम्यक्त्व का घातकपना कहा जाये, तो दोष नहीं है। "लेकिन प्रश्न यह भी है कि यदि अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का घात नहीं करती है, तो इसका उदय होने पर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो कर सासादन गुणस्थान को कैसे प्राप्त करता है?

जैसे किसी मनुष्य के मनुष्य पर्याय नाश का कारण तीव्र रोग प्रगट हुआ हो, उस को मनुष्य पर्याय को छोडने वाला कहते हैं। तथा मनुष्यपना दूर होने पर देवादि पर्याय हो, वह तो रोग अवस्था मे नहीं हुई। यहाँ मनुष्य ही का आयु है। उसी प्रकार सम्यक्त्वी के सम्यक्त्व के नाश का कारण अनन्तानुबन्धी का उदय प्रगट हुआ, उसे सम्यक्त्व का विरोधक सासादन कहा। तथा सम्यक्त्व का अभाव होने पर मिथ्यात्व होता है, वह तो सासादन मे नहीं हुआ। यहाँ उपशमसम्यक्त्व का ही काल है– ऐसा जानना[103]।

---

१०२ मोक्षमार्गप्रकाशक, सप्तम आवृत्ति, जयपुर, १९८३, पृ० ३३६ से उद्धृत

१०३. वही, पृ० ३३७ से उद्धृत

इस प्रकार मिथ्यात्व के आश्रय से प्रवृत्ति करने वाली अनन्तानुबन्धी भले ही द्विस्वभावी कही जाती है, किन्तु वह दर्शनमोहनीय स्वरूप नहीं है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनो की प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी द्विस्वभावता है। विपरीताभिनिवेश दो प्रकार का कहा गया है– अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से जीवो के सासादन रूप परिणाम तो उत्पन्न होता नहीं है, जिससे कि सासादन गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाए। अनन्तानुबन्धी के उदय से दूसरे गुणस्थान मे जो विपरीत अभिनिवेश होता है, वह दर्शनमोहनीय का भेद न हो कर चारित्र का आवरण करने वाला होने से चारित्रमोहनीय का भेद है। इसलिये दूसरे गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि न कह कर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है[१०४]।

यथार्थ मे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी मे बहुत अधिक अन्तर है, क्योकि दोनो के कार्य भिन्न–भिन्न हैं। यद्यपि प्राय दोनो साथ मे रहते है, उदय भी एक साथ होता है, किन्तु भाव तथा कार्य भिन्न–भिन्न है। जो परद्रव्य, परगुण, परपर्याय विषै अहकार–ममकार बुद्धि तथा दृष्टिगोचर पुद्गल पर्यायो के विषय मे अभाव बुद्धि है सो अगृहीत मिथ्यात्व भाव है[१०५]। देव, गुरु, धर्म, आप्त, आगम, पदार्थ का यथार्थ निर्णय न होना और बिना समझे ही उन का श्रद्धान करना गृहीत मिथ्यात्व है। वास्तव मे तत्त्व की प्रतीति न होना ही मिथ्यात्व है। किन्तु अनन्तानुबन्धी एक कषाय है, जिस का मुख्य कार्य राग–द्वेष रूप प्रवर्तना है। प दीपचन्दजी के शब्दो मे "तहा अपना स्वरूप जो ज्ञाता–द्रष्टा भाव, तातैं छुडाय अरु पर स्वरूप जो राग–द्वेष भाव ता रूप करे सो कषाय कहिये। तहाँ

---

१०४ "यस्माच्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीय तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्यायय इतिचेन्न, इष्टत्वात्।" धवला भा० १, पृ० १६५ से उद्धृत

१०५ प दीपचन्द कासलीवाल भावदीपिका, प्रथमसस्करण, १९८७, पृ० २८

राजविरुद्ध, लोकविरुद्ध, धर्मविरुद्ध– ऐसे तीन प्रकार अन्याय रूप कषाय प्रवृत्ति करे सो अनन्तानुबन्धी कषाय जानना[106]।" आचार्य अमृतचन्द्र यह कहते हैं कि जो वस्तु की मर्यादा (स्वभाव) को नहीं छोडता, उसी में स्थिर रहता है, वह सम्यग्दृष्टि है[107]। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का विश्लेषण करते हुए प मुन्नालाल शास्त्री राधेलीय लिखते हैं कि "अनन्तानुबन्धी कर्म (कषाय) मे दो शक्तियॉ या स्वभाव माना गया है कि वह सम्यग्दर्शन को भी घातती है और स्वरूपाचरणचारित्र को भी घातती है (जीवकाड गोम्मटसार, गाथा २० तथा षट्खण्डागम संतसुत्त जीवट्ठाण, पृ १६६) ऐसा वहॉ लिखा है सो क्यो? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त प्रकार का उल्लेख गौण–मुख्य की अपेक्षा से या निश्चय–व्यवहार कथन की अपेक्षा से है। मुख्यता से दोनो एक–एक कार्य ही करते है[108]। "आगम मे यह भी कहा गया है कि सम्यग्दर्शन से विमुख हो कर जो अनन्तानुबन्धी के तीव्र उदय से उत्पन्न हुआ तीव्रतर सक्लेश रूप दूषित मिथ्यात्व के अनुकूल परिणाम होता है, वह सासादन है[109]। यद्यपि विपरीत अभिनिवेश सासादन गुणस्थान मे पाया जाता है, किन्तु मिथ्यात्व कर्मोदय से उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहॉ नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि न कह कर सासादन सम्यग्दृष्टि कहा गया है। यही नहीं, यह भी कहा गया है कि यदि उपशम–सम्यक्त्व का काल छह आवलि– प्रमाण अवशिष्ट हो, तो जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है[110]।

---

१०६ वही, पृ० ५०–५१ से उद्धृत

१०७ समयसारकलश, श्लोक २१५

१०८ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका, प्रथम सस्करण, १९६६, पृ० २८५ से उद्धृत

१०९ "सम्मद्दसणपरम्मुहीभावेण मिच्छत्ताहिमुहीभावो अणताणुबधितिव्वो – दयजणियतिव्वयर सकिलेसदूसिओ आसादणमिदि वुत्त होइ।" कषायपाहुड, भा० ७ (पदेसविहत्ती ५, गा० २२) मथुरा, १९५८, पृ० ३१३ से उद्धृत

११० उवसमसम्मत्तद्धा जइ छावलिया हवेज्ज अवसिट्ठा।
तो सासणं पवज्जइ णो हेट्ठुक्कट्ठकालेसु।। धवला पु० ४, गा० ३२, पृ० ३४२

सासादन गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी कषाय के चारो भेदो मे से किसी का भी उदय होने पर यह जीव मिथ्यात्व के उन्मुख होने योग्य हो जाता है, न कि मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है। जब तक प्रकट दशा न हो, तब तक ऐसा मानना उपचार मात्र है। यदि वास्तव मे ऐसा होता, तो सासादन सम्यग्दृष्टि न कह कर मिथ्यादृष्टि कहा जाता। अतएव अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व को मुख्यता से नहीं घातती, उपचार से घातती है। जिस प्रकार चोरी करने वाला असल मे चोर है, किन्तु व्यवहार मे चोर की सहायता करने वाला या साथ मे रहने वाला भी चोर कहलाता है, यही न्याय यहाँ पर मिथ्यात्व के साथ होने से अनन्तानुबन्धी के लिए लागू होता है। वास्तविकता यह है कि सासादन का छह आवलिकाल सम्यक्त्व का ही अवशिष्ट काल है, वह मिथ्यात्व का काल नहीं है[१११]। यथार्थ मे अनन्तानुबन्धी का यही दायित्व है कि वह मिथ्यात्व को उदय मे आने के लिए मार्ग खोल देती है[११२]। यह भी स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के बन्ध, उदय, सत्त्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय का प्रमुखता से अविनाभाव है। इसलिये दो मे से एक की विवक्षा होने पर दूसरे की विवक्षा हो जाती है[११३]। ऐसा होने मे कोई दोष नहीं है। वास्तव मे अनन्तानुबन्धी कषाय को सम्यक्त्व का घात करने वाली कहना व्यवहार नय की विवक्षा है, यह लक्षणदृष्टि का कथन नहीं है। क्योकि लक्षण–दृष्टि से अनन्तानुबन्धी चारित्रमोहनीय की प्रकृति है और उस के उदय मे वह स्वरूपाचरण चारित्र का घात करती है। "स्वरूपाचरण चारित्र" के कथन का यहाँ पर अभिप्राय "सम्यक्त्वाचरणचारित्र" से ही है।

---

१११ प मुन्नालाल राधेलीय पुरुषार्थसिद्धयुपाय की टीका, पृ० २८५ द्रष्टव्य है। "स· अनन्तानुबन्धी मिथ्यादर्शनोदयफल आपादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति।"

११२ तत्त्वार्थराजवार्तिक ६, १, १३, पृ० ५८६

११३ सत्य तत्राविनाभाविनो बन्धसत्वोदय प्रति।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षाया न दूषणम्।। पचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, श्लोक ११४०

आस्रव क्या है?

'आस्रव' शब्द का अर्थ है– रिसना, आना। जिससे कर्म रिस–रिस कर आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। जीव के मिथ्याभाव द्वारा प्रति क्षण मन, वचन, काय से जो शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव कहा गया है। भावास्रव के अन्तर्गत पॉच आस्रवो में मुख्य मिथ्यात्व का उल्लेख किया गया है।[११४] उसके निमित्त से विशिष्ट पुद्गल वर्गणाएँ आकर्षित हो कर आत्मा के असंख्यात प्रदेशों मे प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्रव है[११५]। अपने–अपने निमित्त रूप योग को प्राप्त करके आत्मप्रदेशो में स्थित पुद्गल कर्म भाव रूप से परिणमित हो जाते हैं, उसे द्रव्यास्रव कहते है[११६]। कर्मो के द्वारा चारो ओर से स्वरूप का पराभव होना सम्पराय है। इस सम्पराय के लिए जो आस्रव होता है, वह साम्परायिक आस्रव है। मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म साम्पराय दसवे गुणस्थान तक कषाय के उदय का चेप रहने से योग के द्वारा आये हुए कर्म गीले चमडे पर धूल की तरह चिपक जाते हैं। उनकी यह स्थिति साम्परायिक आस्रव है[११७]। वीतराग भावना वाले साधक तथा साधु जनो की इच्छा से निरपेक्ष कर्मवश होने वाला कर्म का आगमन आगामी बन्ध का कारण नहीं होता। इसलिये कर्म के आने के अनन्तर क्षण मे उस कर्म के झड जाने से उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं, जो ससार के बन्ध का कारण नहीं होता।

'योगद्वार नाली के समान है। जिस प्रकार तालाब मे जल लाने का द्वार जल के आने का कारण होने से आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा से बॅधने के लिए कर्म योग रूपी नाली के द्वारा आते हैं, इसलिये योगद्वार को आस्रव कहते हैं[११८]। 'कर्म के आने का अर्थ' कहीं बाहर से

---

११४ द्रव्यसग्रह, गा० ३०

११५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० १, तृतीय सस्करण, पृ० २८२

११६ लद्धूण त णिमित्त जोग जं पुग्गले पदेसत्थं।
परिणमदि कम्मभाव त पि हु दव्वासवं बीज।। बृहत् नयचक्र, गा० १५३

११७ तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ० ६, सू० ४, पृ० ५०८

११८ सर्वार्थसिद्धि, अ ६, सू २, पृ० ३१६

कर्म का आना नहीं है, किन्तु विस्रसोपचय रूप से स्थित पुद्गल परमाणुओ का ज्ञानावरणादि रूप कर्म पर्याय का प्राप्त करना है[119]। आस्रव—बन्ध में अन्तर क्या है? ब्रह्मदेवसूरि स्वय प्रश्न करते हुए कहते हैं— आस्रव—बन्ध होने में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कारण समान हैं। फिर, आस्रव—बन्ध मे क्या भेद है? उत्तर है— यह शका ठीक नहीं है। क्योकि प्रथम क्षण मे जो कर्मस्कन्धो का आगमन है, वह आस्रव है और आगमन के पश्चात् द्वितीय क्षण मे उन कर्मस्कन्धो का जो जीव—प्रदेशो मे स्थित होना है, वह बन्ध है।

आस्रवत्रिभगीकार आचार्य श्रुतमुनि ने इन भावो के चार प्रकार कहे हैं— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। "अध्यात्मकमलमार्तण्ड" के भावार्थ मे वैभाविक भावो के चार भेदो को स्पष्ट करते हुए कहा गया है— "वैभाविक भावो के चार भेद और उनमे ही भेद मान कर पॉच भेद करने मे कोई सिद्धान्त—विरोध या असगति नहीं है। दोनो ही परम्पराऍ एव मान्यताऍ प्रमाणभूत है और मान्य हैं। एक तीसरी प्रकार की भी मान्यता है जो कषाय और योग दोनो को ही मानती है। सूक्ष्मदृष्टि से देखते हुए मिथ्यात्व और अविरति ये दोनो कषाय के स्वरूप से अलग नहीं पडते, अत कषाय और योग इन दो की मान्यता भी कोई विरुद्ध या असगत नहीं है। इस तरह से सख्या और उसके कारण नामों मे भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इन परम्पराओ मे कुछ भी भेद नहीं है[120]।"

आस्रव-बन्ध की स्थिति-

प्रत्येक द्रव्य मे प्रति समय परिणाम होता रहता है। बिना परिणाम के कोई द्रव्य नहीं है। प्रवाह की अपेक्षा प्रत्येक द्रव्य मे परिणाम अनादि काल से हो रहा है। विशेष की अपेक्षा वह सादि है। परन्तु परिणाम का नाम योग नहीं है, वरन् आत्मप्रदेशो का कम्पन—व्यापार योग है। जैसे तपाये हुए लोहे को पानी मे डालते ही वह अत्यन्त वेग से परिस्पन्दित

११६ भगवती आराधना, गा. १८३१

१२० प दरबारीलाल कोठिया, प परमानन्द शास्त्री (स) अध्यात्मकमलमार्तण्ड, चतुर्थ परिच्छेद, श्लोक २ का भावार्थ, पृ ६१ से उद्धृत

होने लगता है, वैसे ही वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से मन–वचन–कायवर्गणा के आलम्बन से आत्मप्रदेशो के हलन– चलन को योग कहते हैं। ससारी जीव के सामान्यत सभी प्रदेश प्रति समय कम्पित होते रहते हैं। इस कम्पन–व्यापार से कर्म और नोकर्म वर्गणाओ का ग्रहण होता है, जिस का सामान्य नाम आस्रव है[121]। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों मे[122] "तथा इतना जानना कि नामकर्म के उदय से शरीर, वचन और मन उत्पन्न होते हैं। उन की चेष्टा के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो का चचलपना होता है, उस से आत्मा को पुद्गलवर्गणा से एक बन्धान होने की शक्ति होती है, उसका नाम योग है। उस के निमित्त से प्रति समय कर्म रूप होने योग्य अनन्त परमाणुओ का ग्रहण होता है। वहॉ अल्पयोग हो, तो थोडे परमाणुओ का ग्रहण होता है और बहुत योग हो, तो बहुत परमाणुओ का ग्रहण होता है। तथा एक समय मे जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करे, उन मे ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियो का और उन की उत्तर प्रकृतियो का, जैसा सिद्धान्त मे कहा है, वैसा बटवारा होता है। उस बटवारे के अनुसार परमाणु उन प्रकृतियो रूप स्वय ही परिणमित होते हैं।... इस प्रकार योग के निमित्त से कर्मो का आगमन होता है। इसलिये योग है, वह आस्रव है तथा उस के द्वारा ग्रहण हुए कर्मपरमाणुओ का नाम प्रदेश है, उनका बन्ध हुआ और उन मे मूल–उत्तर प्रकृतियों का विभाग हुआ, इसलिये योगो द्वारा प्रदेशबन्ध तथा प्रकृतिबन्ध का होना जानना। वास्तव मे स्वसवेदन से विलक्षण शुभाशुभ परिणाम द्वारा शुभ और अशुभ कर्मो का आना, वह आस्रव है[123]। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि ज्ञानावरणादि कर्मो के आगमन का निमित्त कारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदय रूप पुद्गल–परिणाम हैं, इसलिये वे वास्तव मे आस्रव हैं। उन कर्मो के आगमन मे निमित्तभूत होने से जीव के राग–द्वेष, मोह रूप

---

१२१ सिद्धान्ताचार्य प फूलचन्द्र शास्त्री कृत "तत्त्वार्थसूत्र" पृ० १८७ तथा "गोम्मटसार कर्मकाण्ड" गा० ३ पठनीय हैं।

१२२ मोक्षमार्गप्रकाशक, सप्तम आवृत्ति, १९८३, पृ० २६–२७ से उद्धृत

१२३ बृहद्द्रव्यसग्रह, गा० २८ की टीका

(अज्ञानमय) परिणाम उन के निमित्त हैं, इसलिये रागद्वेष, मोह ही आस्रव हैं[124]। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं[125]–जब आत्मा राग–द्वेष से युक्त हो कर शुभ, अशुभ भाव रूप परिणमित होता है, तब कर्मधूलि ज्ञानावरणादि रूप से उस में प्रवेश करती है। जैसे वर्षाकाल मे मेघजल के भूमि से सयोग रूप परिणाम के समय हरी–हरी घास, पल्लव, हरियाली आदि अन्य पुद्‌गल परिणाम स्वय विचित्रता को प्राप्त होते है, वैसे ही आत्मा के शुभ–अशुभ परिणाम के समय कर्म पुद्‌गल–परिणाम वास्तव मे स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं[126]। अतएव कर्मो की विविधता स्वय कर्मो के स्वभाव से है।

यथार्थ मे शुद्ध आत्मतत्त्व के आश्रय के विपरीत जो भी परिणाम हैं, वे पुद्‌गल कर्मो के आस्रव के निमित्त कारण है। जिन परिणामो से कर्मो का आस्रव होता है, वे इस प्रकार के हैं– पॉचों इन्द्रियो के विषय भोगने के परिणाम, क्रोध, मान, माया, लोभ, पर वस्तु को अपना मानने का भाव, पर पदार्थो को जानने का लक्ष्य, आदि भावास्रव मे निमित्त परिणाम हैं। भाव आस्रव जीवास्रव का ही दूसरा नाम है। जीव और अजीव के विशेष होने से आस्रवादिक जीव और अजीव के पर्याय कहे गये है। श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव कहते हैं–

आसवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि।। *द्रव्यसग्रह, गा २९*

आत्मा के जिस परिणाम से कर्म आता है, वह जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहा हुआ भावास्रव जानना चाहिए और जो कर्मो (ज्ञानावरणादि) का आना

---

१२४ "मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा पुद्‌गलपरिणामा ज्ञानावरणादि पुद्‌गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवा । तेषा तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्त अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहा । तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वात् रागद्वेषमोहा एवास्रवा ।" समयसार, गा० १६४–१६५ आत्मख्याति टीका तथा–"मिच्छत्तासजम–कसाय–जोगा आसवो।" धवला पु १३, (५, ५, ८) पृ ३५२

१२५ परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहि।। प्रवचनसार गा०, १८७

१२६ वही, गा० १८७ तत्त्वप्रदीपिका टीका

है, वह द्रव्यास्रव है। आचार्य अमितगति यह कहते हैं कि मोह रूप जो मिथ्यादर्शन है, वह कर्मो के आस्रव का प्रधान हेतु है। वास्तव मे पर पदार्थो को अपना समझने से मोह बढता रहता है। जहाँ अह बुद्धि है, वहाँ ममकार बुद्धि है। कर्म के आस्रव मे तीसरा हेतु है– स्वामित्व बुद्धि। जिस मे स्वामित्व बुद्धि है, उस मे कर्तृत्व बुद्धि है और जहॉ कर्तृत्व है वहॉ भोक्तृत्व है[१२७]। वास्तव मे जीव अपने ज्ञानादि गुणो का और पुद्गल कर्म अपने ज्ञानावरणादि गुणो का कर्ता है। एक के द्वारा दूसरे के गुणो का किया जाना जो कहा जाता है, वह व्यवहारनय का कथन है[१२८]। सक्षेप मे, कथन का सार यही है कि योगो से उत्पन्न हुई जो बहुत सारी कल्पनाएँ हैं, वे मिथ्याज्ञान पर आधारित ससार मे भ्रमण कराने वाली कर्मसमूह के आस्रव मे समर्थ हैं[१२९]। यथार्थ मे कोई भी पर पदार्थ आस्रव–बन्ध का कारण नहीं है, अपनी मिथ्या कल्पना ही आस्रव का मूल कारण है। बन्ध का कारण निश्चय से अध्यवसान ही है। बाहरी वस्तुएँ तो अध्यवसान के लिए आलम्बन हैं, इसलिये उन को अध्यवसान का औपचारिक कारण कहा जाता है, जो बन्ध के कारण का कारण है[१३०]।

प्राय यह कहा जाता है कि शुभ योग से पुण्यकर्म का और अशुभ योग से पापकर्म का आस्रव होता है– यह प्रधानता की अपेक्षा कथन है। वस्तुत प्रत्येक योग से दोनो प्रकार के कर्मो का आस्रव होता है। क्योकि योग कारण है और बन्ध कार्य है। जिस प्रकार पाइप, नाली आदि के मुख द्वारा जलाशय मे पानी का प्रवेश होता है, उसी प्रकार योग के द्वारा कर्म–नोकर्म वर्गणाओं का ग्रहण हो कर उनका आत्मा से सम्बन्ध होता है, इसलिये योग को आस्रव कहा गया है। वास्तव मे यह

---

१२७ आचार्य अमितगति योगसार–प्राभृत, अ० ३, श्लोक ३–१७

१२८ वही, योगसार–प्राभृत अ० ३, श्लोक २४–२५

१२९ मिथ्याज्ञाननिविष्ट–योगजनिता सकल्पना भूरिश ससार–भ्रमकारिकर्म–समितेरावर्जने या क्षमा। .वही, अ० ३, श्लोक ४०

१३० वत्थु पडुच्च ज पुण अज्झवसाण तु होदि जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।। समयसार, गा० २६५

बाह्य साधन की अपेक्षा कथन है। यदि जल मे स्वय बहाव की शक्ति न हो तो, चाहे जितने नाले–पनाले बनाये जाये, वे जल को जलाशय तक नहीं भेज सकते। लेकिन पानी नीचाई पर हो, तो भी बह कर जलाशय तक नहीं पहुँच सकता– इस बहिरंग साधन की अपेक्षा कथन किया जाता है। वास्तव मे सज्ञी जीवो के तीनो योग होने पर भी प्रत्येक जीव के एक समय मे एक ही योग होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी यह कहते हैं कि यदि कोई यह कहता है कि उपवास करना भी सावद्य है, क्योकि अपने पेट में स्थित प्राणियो (कीडो) को पीडा दिए बिना उपवास नहीं बन सकता है तथा बारह प्रकार के तप के निमित्त से होने वाले क्लेश में डालने वाले होने के कारण जिनदेव और उनका उपदेश निर्दोष कैसे हो सकता है? तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिनदेव के तेरहवे गुणस्थान मे कर्मबन्ध के प्रत्ययो (मिथ्यात्व, असयम और कषाय) का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड कर शेष सभी कर्मों का बन्ध नहीं होता है। वेदनीय कर्म मे भी कषाय का अभाव होने से उस मे स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध नहीं होता है। (जयधवला, भा १, पृ ६२)

अत पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देने पर भी तीर्थंकर के कर्म का बन्ध नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि 'उपदेश देना' बन्ध का कारण नहीं है, किन्तु अध्यवसान भाव बन्ध का कारण है। अध्यवसान भाव के होने मे मिथ्यात्व की 'अहम्' भूमिका है। सामान्यत मिथ्यात्व और कषाय दोनो का योग रहता है। इसलिये जिनागम मे ऐसा निश्चय किया गया है कि आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिसा है। जो प्रमादरहित आत्मा है, वह अहिंसक है और जो प्रमाद सहित है, वह हिंसक है। इसलिये निष्कर्ष यह है कि जीवो को मारो या मत मारो, बन्ध के प्रसग मे जीवो को मारना या नहीं मारना प्रयोजक नहीं है, क्योकि अध्यवसाय से जीवो के बन्ध होता है। निश्चय नय की अपेक्षा यह बन्ध का साराश समझना चाहिए। कहा भी है–

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेज्ज मा व मारेज्ज।
एसो बंध समासो जीवाणं णिच्छयणयस्स।।४४।।

(जयधवला, भा १, पृ ६४)

कोई ऐसा भी कहता है कि वस्तु के आश्रय से विकल्प होने के कारण वस्तु बन्ध का कारण है। किन्तु जिनागम इस का निषेध करता हुआ स्पष्ट कथन करता है कि वस्तु को निमित्त कर विकल्प होते हैं। अत व्यवहारनय का यह कथन है कि वस्तु के निमित्त से बन्ध होता है। यह कथन होने पर भी वस्तुत बन्ध तो अध्यवसान के सम्बन्ध से होता है। आचार्यों के शब्दों मे—

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं ति भणइ ववहारो।
ण य वत्थुदो दु बंधो बंधो अज्झप्पजोएण।।५१।।

(जयधवला, भा० १, पृ. १५)

अर्थात्—बन्ध वस्तु से नहीं, रागादि भावो से होता है। बँधने का नाम बन्ध है या जिसके द्वारा अथवा जिस मे बँधते हैं, उसका नाम बन्ध है। बन्ध स्पर्श का नाम नहीं है। आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दो मे ***"बंधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती"*** द्वित्व का त्याग कर एकत्व की प्राप्ति का नाम बन्ध है। *(धवला पु १३, पृ ७)*

बन्ध किसे कहें?

भावो की अपेक्षा मिथ्यात्वादि परिणामो से कर्म पुद्गल—परमाणु ज्ञानावरणादि रूप से परिणमित होता है, जिससे ज्ञानादि गुणो का आवरण होता है। इस "कम्माण सबधो बधो" कर्म रूप सम्बन्ध का होना बन्ध है। (गो. कर्मकाण्ड, गा ४३८) वास्तव मे द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो सयोग तथा समवाय है, वही बन्ध कहलाता है। *(धवला पु १४, पृ २)*

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के शब्दो मे—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो।।

प्रवचनसार, गा १७५

अर्थ— जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त कर मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, वह जीव उन मोह, राग—द्वेष के द्वारा बन्ध रूप है। अत. बन्ध का मूल कारण रागादि (राग—द्वेष, मोह) भाव हैं। यद्यपि यह कहा जाता है और देखा भी जाता है कि वस्तु के

आलम्बन के बिना रागादि भाव प्रकट नहीं होते, किन्तु मूल मे रागादि भाव बन्ध के कारण हैं।

वस्तुत वस्तु से बन्ध नहीं होता, बन्ध तो आत्मपरिणामो (रागादि भावो) से होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रमाद के बिना रत्नत्रय को सिद्ध करने के लिए ग्रहण किया गया बाह्य पदार्थ ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का प्रत्यय नहीं हो सकता है, क्योकि जो प्रत्यय से उत्पन्न नहीं हुआ है, उस से प्रत्यय मानना आगम के विरुद्ध है। *(धवला पु १२, पृ २८२)*

यथार्थ मे कितनी प्रकृतियो को बाँधता है? कितनी स्थिति–अनुभाग को बॉधता है? कितने जघन्य और उत्कृष्ट परिणाम सहित प्रदेशो को बॉधता है? कितनी प्रकृतियो का सक्रमण करता है? कितनी स्थिति और अनुभाग का सक्रमण करता है? कितने गुणहीन और गुणविशिष्ट प्रदेशो का सक्रमण करता है? इन बन्धो का "महाबन्ध" के अनुसार आचार्य वीरसेन स्वामी ने जयधवला टीका मे विवेचन किया है। *(कसायपाहुडसुत्त, गा २३, बन्धक अनुयोगद्वार)*

जिनागम मे यह भी कथन है कि भावबन्ध के अभाव मे द्रव्यबन्ध नहीं होता। किसी जीव को मारो या न मारो, किन्तु जहॉ मारने का विकल्प हुआ कि उस विकल्प (मैं और मेरा अथवा पर) रूप परिणाम से कर्म का बन्ध होता है। जीवो के लिए निश्चय नय से यही प्रत्यक्ष रूप बन्धतत्त्व का सक्षेप है। यथार्थ मे जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता–जानता है और उससे उपरक्त होता है, उसी से कर्मबन्ध होता है– यह जिनदेव का उपदेश है। *(समयसार, गा १७६ तथा गा १६७ आत्मख्याति टीका)*

बन्ध नामक अधिकार मे जीव और कर्मो के सम्बन्ध का नय की अपेक्षा से निरूपण किया गया है। बन्धक अधिकार में ग्यारह अनुयोगद्वारो से बन्धको का निरूपण किया गया है। जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगो से जो एकत्व परिणाम होता है, उसे बन्ध कहते हैं। बन्धक जीव ही होते हैं, क्योकि मिथ्यात्व आदिक बन्ध के कारणो से रहित अजीव के बन्धक भाव की उत्पत्ति नहीं होती। तेईस वर्गणाओ मे से बन्धयोग्य और अबन्ध योग्य पुद्गलद्रव्य का निरूपण किया गया है। जो

बन्धविधान है, वह चार प्रकार है– प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। यह तो सुनिश्चित है कि मिथ्यादृष्टि से ले कर सूक्ष्म–साम्परायिक शुद्धिसयत उपशामक तथा क्षपक तक सभी ज्ञानावरणादि प्रकृतियो के बन्धक हैं। इतना ही नहीं, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियो का बन्ध व उदय दोनो साथ व्युच्छिन्न होते हैं। बन्ध, बन्धविधि, बन्धस्वामित्व, बन्धसीमा और प्रत्ययविधि ये पॉचों नियोग मार्गणास्थानो मे खोजने योग्य हैं। बन्ध पूर्व मे है, उदय पूर्व में है या दोनों साथ हैं तथा किस कर्म का बन्ध निज के उदय के साथ होता है, किस का पर के साथ और किस का अन्यतर के उदय के साथ होता है। कौन प्रकृति सान्तर बन्ध वाली है और कौन निरन्तर बन्ध वाली है? प्रत्यय–विधि, स्वामित्वविधि तथा गति सयुक्त बन्धाध्वान के साथ प्रकृतियों के स्थान का आश्रय कर स्वामित्व जानना चाहिए। बन्ध पूर्व मे, उदय पूर्व मे या दोनो साथ होते है, वह बन्ध स्वोदय से परोदय से या दोनो के उदय से होता है, वह बन्ध सान्तर है या निरन्तर, अन्तिम समय मे होता है या इतर समय मे तथा वह सादि है या अनादि है।

चार घातिया कर्म अप्रशस्त हैं, इसलिये इनका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट सक्लेश रूप परिणामो से होता है। ये परिणाम सज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि के जागृत अवस्था मे साकार उपयोग के समय ही हो सकते हैं। यही कारण है कि ऐसी योग्यता वाले जीव को इन कर्मो के उत्कृष्ट अनुभाग का बन्धक कहा है। "महाबन्ध" की चतुर्थ पुस्तक मे यह अच्छी तरह से समझाया गया है कि जहॉ मिथ्यात्व बन्ध प्रत्यय है, वहॉ शेष असयम, कषाय और योग भी हैं। मिथ्यात्व की प्रधानता होने से उन का बन्ध मिथ्यात्व प्रत्ययक निरूपित किया गया है। प्रत्ययानुगम की अपेक्षा छहकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयमप्रत्यय और योगप्रत्यय होता है।

यद्यपि सिद्धालय में अनन्त कार्मण वर्गणाएँ खचाखच भरी हुई हैं, तथापि सिद्ध परमात्मा को कर्मबन्ध नहीं होता। अर्हन्त भगवान योग सहित हैं, फिर भी वे अबन्ध रहते हैं। प्रमाद से रहित अप्रमत्त साधु के निमित्त से हिंसा हो जाने पर भी कर्म का बन्ध नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव असयमी होने पर भी मिथ्यात्वजनित बन्ध से रहित हैं। इस से यही स्पष्ट

होता है कि मात्र कार्मण वर्गणाओ, योग, हिंसा और असयम से बन्ध नहीं होता, अपितु शुभाशुभ रूप अशुद्ध उपयोग ही बन्ध का कारण है।

बन्ध क्या है?

जो बाँधता है वह बन्ध है[131] अर्थात् बुद्धि से एकत्व को प्राप्त होता है। जिस अनुयोगद्वार मे कार्मण वर्गणा (अनन्त पुद्गल परमाणु) के कर्म रूप परिणमन करने की योग्यता को प्राप्त हुए पुद्गल स्कन्धो का जीव प्रदेशो के साथ मिथ्यात्व आदि के निमित्त से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का सम्बन्ध कहा जाता है, उस को बन्ध अनुयोगद्वार कहते हैं[132]। बन्ध का अर्थ कर्मबन्ध से है और कर्मबन्ध मे जीव और कर्म का सम्बन्ध प्ररूपित किया जाता है। इस मे बन्धन के चार भेद बन्ध, बन्धक बन्धनीय और बन्ध के विधान का विवेचन किया गया है। द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो सयोग और समवाय होता है, वह बन्ध कहलाता है। द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के बन्ध के जो कर्ता हैं, वे बन्धक कहलाते हैं[133]।एकत्व का यहॉ पर क्या अभिप्राय है? उत्तर में कहते हैं कि जीव और कर्मो का मिथ्यात्व, असयम कषाय और योगो से जो एकत्व परिणाम होता है, उसे

---

१३१ "बध्नातीति बन्ध । बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बन्धनमात्र वा बन्ध ।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ५, २४, १ तथा–"बन्धन बन्ध, बद्ध्यते अनेनास्मिन्निति वा बन्ध ।" धवला पु० १३, (५, ५, ८२) पृ० ३४७

१३२ "तत्थ जम्मि अणियोगद्दारे कम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खधाण कम्मपरिणामपाओग्गभावेणावट्ठिदाण जीवपदेसहिं सह मिच्छत्तादिपच्चयवसेण सबधो पयडि–ट्ठिदि–अणुभाग–पदेसभेयभिण्णो परूविज्जइ तमणुयोगद्दार बधो त्ति भण्णदे।" कसायपाहुड (बधगो ६) भा० ८, पृ० २

१३३ "बधणे त्ति चउव्विहा कम्मविभासा–बधो बधगा बधणिज्ज बधविहाणे त्ति। दव्वस्स दव्वेण दव्व–भावाण वा जो सजोगो समवाओ वा सो बधो णाम। बधस्स दव्व–भावभेदभिण्णस्स जे कत्तारा ते बधया णाम।. . जो सो बधो णाम सो चउव्विहो–णामबधो ट्ठवणबधो दव्वबधो भावबधो चेदि।" धवला पु० १४, (५, ६, २), पृ० १–२

बन्ध कहते हैं। कहा भी है–

बंधेण य संजोगो पोग्गलदव्वेण होइ जीवस्स।
बंधो पुण विण्णेओ बंधविओओ पमोक्खो दु।

(धवला पु. ८, पृ ३)

अर्थ–जीव का पुद्‌गल द्रव्य से जो बन्ध रूप से संयोग होता है, उसे बन्ध जानना चाहिए और बन्ध के वियोग को मोक्ष जानना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे मिथ्यात्व और कषाय दोनो से एकत्व परिणाम होता है, जिसे कर्मबन्ध कहते हैं। क्षु श्री मनोहरलालजी वर्णी के शब्दो मे "ससार का दूसरा नाम है– मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। ये तीनो भावात्मक चीजे हैं और योग प्रदेशात्मक चीज है। आस्रव का कारण अध्यवसाय है और साथ ही योग है। इन चार अध्यवसायो का मूल है– आत्मा और कर्म के एकत्व का निश्चय।" इस प्रकार एकीभाव का नाम बन्ध है। *(समयसार प्रवचन, अष्टम पुस्तक, १६७५, पृ २८८ से उद्‌धृत)*

अब मुख्य प्रश्न यह है कि मिथ्यात्व आस्रव प्रत्यय है, उसे बन्ध प्रत्यय क्यो कहते हो? समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व से अनन्त ससार बॉधता है। अनन्त ससार लाने वाली मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के सिवाय अन्य कर्म की प्रकृति नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग इन चारो का बन्ध के सामान्य प्रत्यय के रूप मे निरूपण किया है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि पुद्‌गल द्रव्य मय सामान्य चार प्रत्यय तथा उनके विशेष भेद रूप तेरह प्रत्ययो से ज्ञानी जन राग तथा ससर्ग नहीं करते। (समयसार, गा १०६ तथा १४६)। रागी जीव कर्म बाँधता है– यह उपचार का कथन है। वास्तव मे जो रागादि मे रक्त है, उस के ससार विषयक कर्मबन्धन होता है। कहा भी है–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।। *समयसार, गा १५०*

यहाँ पर 'रत्त' का अर्थ है– जो रागादि मे रक्त है। अधिक स्पष्ट शब्दो में कहे तो आसक्त, राग का रागी ही मुख्य रूप से कर्म को बाँधता है। क्योकि बन्धन के बीज मोह, राग–द्वेष ही हैं। इसलिये कहा है– "आत्मा

लोभादिद्रव्यै स्थानीय मोहरागद्वेषै कषायतो रजित परिणतो मजिष्ठ स्थानीय कर्मपुद्गलै सश्लिष्ट सबद्ध सन् भेदेऽप्यभेदोपचार लक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते।" *(प्रवचनसार गा २०१, तात्पर्यवृत्ति)*

प्रश्न यह है कि जीव द्रव्य अमूर्त है और कर्म पुद्गल द्रव्य मूर्त है, ऐसी अवस्था मे इन दोनो का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? समाधान यह है कि ससार अवस्था मे जीवो के कथचित् अमूर्तता नहीं है, इसलिये विरोध नहीं है। इस पर फिर शका है कि जीव ससार अवस्था मे मूर्त है, तो मुक्त होने पर अमूर्त कैसे हो जाता है? उत्तर यह है कि मूर्तता का कारण कर्म है। कर्म का अभाव होने पर उस के आश्रय से रहने वाली मूर्तता का अभाव हो जाता है। यही नहीं, पुद्गलो का जीव और पुद्गलो के साथ तथा आकाश आदि द्रव्यो के साथ भी स्पर्श पाया जाता है, क्योकि नैगम नय की अपेक्षा इनकी प्रत्यासत्ति देखी जाती है[१३४]। कर्मस्पर्श मे न तो कर्मो का उन के विस्रसोपचयो के साथ होने वाला स्पर्श ग्रहण किया गया है और न कर्मो का नोकर्मो के साथ होने वाला स्पर्श लिया गया है। इसलिये कर्मस्पर्श का अर्थ है--कर्मो का परस्पर मे होने वाला स्पर्श। जिस प्रकार सूक्ष्म पुद्गल तथा व्यक्त इन्द्रियगम्य स्थूल पुद्गल का बन्ध होता है, वैसे ही अमूर्तिक आत्मा से मूर्तिक कर्म का बन्ध होता है[१३५]।

बन्ध का मूल· अज्ञान, राग·

आचार्य कुन्दकुन्ददेव यह कहते है कि मूर्त ऐसे दो पुद्गल द्रव्य तो रूपादि गुणो से युक्त स्निग्ध–सूक्षत्व रूप बन्ध योग्य स्पर्श के कारण परस्पर बन्ध को प्राप्त होते है, किन्तु आत्मा और कर्मपुद्गल का बन्ध होना कैसे समझा जा सकता है[१३६]। फिर भी, यह सिद्धान्त निश्चित करते है कि अमूर्तिक आत्मा मूर्तिक पदार्थो को कैसे जानता है? जैसे वह मूर्तिक पदार्थो को जानता है, उसी प्रकार मूर्तिक कर्मपुद्गलो के साथ बॅधता है[१३७]।

१३४ धवला पु० १३ (५, ३, १२), पृ० ११–१२

१३५ मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० २४

१३६ प्रवचनसार, गा० १७३

१३७. वही, गा० १७४

आचार्य जयसेन का इस सन्दर्भ में कथन बहुत उचित है कि नय–विभाग से अमूर्त आत्मा का बन्ध होता है[१३८]। भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं– जब उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह (रूप भाव) करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, तब वह उन मोह–राग–द्वेष के द्वारा बन्धरूप है[१३९]। आचार्य विद्यानन्दि ने 'अज्ञान' में मिथ्यात्वादि का सग्रह किया है। वास्तव में 'मोह' सहित जीव के ही अज्ञान से विशेष कर्मबन्ध होता है[१४०]।

मिथ्यात्व विपाकप्रत्ययिक होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और अनन्तानुबन्धी रूप द्रव्यकर्म के उदय से होती है[१४१]। भाव की दृष्टि से मिथ्यात्व मिथ्यात्व के उदय से ही उत्पन्न होता है। अज्ञान भाव भी विपाकप्रत्ययिक होता है, क्योकि वह मिथ्यात्व के उदय से अथवा ज्ञानावरण के उदय से उत्पन्न होता है। मिथ्यात्व भी विपाक प्रत्ययिक होता है, क्योकि वह मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कर्मोदय प्रत्ययिक उदय विपाक निष्पन्न और जितने भाव होते हैं, वे सब विपाकप्रत्ययिक जीव भावबन्ध कहलाते हैं[१४२]। वास्तव में अज्ञान ही बन्ध का मुख्य हेतु है। बन्ध के सम्पूर्ण हेतुओ मे मोह चक्रवर्ती सम्राट् कहा गया है। इस के ही आश्रित मिथ्याज्ञान मन्त्री कहा गया है[१४३]। अहकार और ममकार उस के ही दो सेनापति है[१४४]। अज्ञान ही सबसे

---

१३८ वही, गा० १७४ की तात्पर्यवृत्ति टीका

१३९ वही, गा० १७५

१४० अष्टसहस्री, तृतीय भाग, श्लोक ६८, पृ ४७९ (स ज्ञानमती माताजी)

१४१ धवला पु० १४ (५, ६, १५), पृ० ११

१४२ "मिच्छत्त विवागपच्चइय, मिच्छत्तोदयजणिदत्तादो। जे च अमी अण्णे च एवमादिया कम्मोदयपच्चइया उदयविवागणिप्पण्णा सो सव्वो विवागपच्चइयो जीवभावबधो णाम।" धवला पु० १४ (५, ६, १५), पृ० १२ से उद्धृत

१४३ बन्ध–हेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति कीर्तित।
मिथ्याज्ञान तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्।। तत्त्वानुशासन, श्लोक १२

१४४ वही, श्लोक १३

बड़ा कारण है, जिस से यह जीव आत्मदर्शन नहीं कर पाता। जानने, देखनहारा जीव स्वय अपने आप को देख नहीं पाता, जान नहीं पाता, इस से बडा अज्ञान क्या हो सकता है? मोह के कारण ही ज्ञान अज्ञान कहा जाता है। शुद्धात्मा या परमात्मा का दर्शन–पूजन करने वाले आज तक यह नहीं समझ पा रहे हैं कि परमात्मा का क्या स्वरूप है? दर्शनमोह के कारण यह सच्चे देव, शास्त्र, गुरु, धर्म तथा तत्त्व के स्वरूप से अनजान रहता है, उनकी श्रद्धा नहीं कर पाता है। यदि पदार्थ की सम्यक् श्रद्धा नहीं है, तो शास्त्रज्ञान के बल से मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। यथार्थ में तत्त्वार्थश्रद्धान व वस्तुस्वरूप का ज्ञान ही आत्मकल्याणकारी है।

यथार्थ मे अज्ञान बन्ध का मूल कारण है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है तथा अज्ञान ही बन्ध का कारण है। क्योकि ज्ञान रूप परिणमित ज्ञानी के शुभ कर्म न होने पर भी वह मोक्ष को प्राप्त करता है तथा अज्ञान रूप परिणमित अज्ञानी के शुभ कर्म होने पर भी वह बन्ध को प्राप्त होता है[१४५]। यह मिथ्यात्व का सम्बन्ध है जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनो को मलिन कर देता है। जिस प्रकार कपडा कीचड के सग से मैला कर दिया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के द्वारा उस के सम्बन्ध से दर्शन, ज्ञान, चारित्र मलिन किए जाते हैं[१४६]। जिस चेतन भाव से कर्म बॅधता है, वह भावबन्ध है और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशो का परस्पर प्रवेश द्रव्यबन्ध कहा गया है[१४७]। वास्तव मे समस्त कर्मबन्ध नष्ट करने मे समर्थ, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, परम चैतन्यविलास जिस का लक्षण है, ऐसे ज्ञानगुण से सम्बन्धित अथवा अभेदनय से अनन्त ज्ञानादि गुण के आधारभूत परमात्मा के साथ सम्बन्धित जो निर्मल अनुभूति, उस से विपरीत मिथ्यात्व–रागादि परिणति

---

१४५ समयसार, गा० १५३ आत्मख्याति टीका, तथा–
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बध प्रकृतिभि।
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहन।। समयसारकलश, १६५
१४६ आचार्य अमितगति योगसार–प्राभृत, अ० ४, श्लोक १५
१४७ बज्झदि कम्म जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो।
कम्मादपदेसाण अण्णोण्णपवेसण इदरो।। द्रव्यसग्रह, गा० ३२

रूप अथवा अशुद्ध चेतन भावस्वरूप जिस परिणाम से ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहा जाता है[१४८]। इस प्रकार मिथ्यात्व, राग–द्वेष भावबन्ध हैं। यह निश्चित है कि बिना सम्बन्ध के बन्ध नहीं होता। सम्बन्ध सदा काल दो मे होता है। यहॉ पर उपयोग और रागादि का सम्बन्ध कहा गया है। उपयोग भी यदि शुद्ध हो, तो सम्बन्ध नहीं बन सकता है। इसलिये अशुद्ध उपयोग से ही बन्ध कहा गया है। आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र आचार्य प्रभृति यही निश्चय करते हैं कि अज्ञानी के कर्म के निमित्त से जो राग–द्वेष, मोह आदि परिणाम होते हैं, वे ही पुन आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं[१४९]। आचार्य वीरसेन स्वामी भी यही कहते हैं कि मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम आदि के निमित्त से होने वाला निदान प्रत्यय अनन्त ससार का कारण है[१५०]।

बन्ध का स्वरूप

वस्तुत बन्ध भावात्मक है; क्योकि आस्रवबन्ध परिणामो पर अवलम्बित है। सम्बन्धमूलक जो भी परिणाम हैं, वे सब बन्धकारक हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है–एकीभाव का नाम बन्ध है और समीपता या सयोग का नाम युति है। (धवला पु १३ पृ ३४८) जीव और कर्मों का मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगो से जो एकत्व परिणाम होता है, उसे बन्ध कहते हैं। (धवला पु ८, पृ २) यहॉ पर यह विचारणीय है कि बन्ध के प्रसग मे राग–द्वेष कषाय भावो से बन्ध होता है, यह तो सभी मानते है, किन्तु इसमे अह भूमिका मिथ्यात्व की है या नहीं? यदि मिथ्यात्व से बन्ध नहीं होता, तो आचार्य कुन्दकुन्द यह क्यो कहते?

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते किं करोसि तुमं।।

समयसार, गा २६७ (२७९)

---

१४८ बृहद्द्रव्यसग्रह, गा० ३२ की टीका

१४९. समयसार, गा० २८२ की आत्मख्याति टीका।

१५० धवला पु० १२, पृ० २८५

आचार्य जयसेन कहते हैं– ससारी जीव अपने मे होने वाले मिथ्यात्व रागादि अध्यवसान का निमित्त ले कर ही नवीन कर्म के बन्ध से जकड लिए जाते हैं– ऐसा ही नियम है। (ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर से प्रकाशित "समयसार", द्वितीय सस्करण, पृ २५५)

अत· यह निश्चित है कि जिन मुनीश्वरो के शुभ, अशुभ भाव रूप अध्यवसान भाव नहीं होते हैं, वे शुभ और अशुभ कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। (समयसार, गा २७०) मिथ्यादृष्टि के नियम से अध्यवसान भाव होते हैं। मिथ्या अभिप्राय ही मिथ्यात्व है और वही बन्ध का कारण है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे–

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात्।

य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते।। समयसारकलश, १७०

अर्थात्– इस मिथ्यात्व रूप परिणाम से कि 'इस जीव ने इस जीव को मारा है, इस जीव ने इस जीव को जिलाया है' ज्ञानावरणादि कर्मो का बन्ध होता है। यह अध्यवसान भाव जिसके है, उस जीव का मिथ्यात्वमय स्वरूप देखने मे आता है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से 'अध्यवसान भाव' को मिथ्यात्वरूप कहा है। वास्तव मे जो आपका स्वरूप नहीं है, उसे आप रूप मानना ही मिथ्यात्व है।

जब जीव उपयोग से पर द्रव्य या पर भाव के साथ भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है या जुड जाता है, तब उसे भावबन्ध कहा जाता है। उदाहरण के लिए, हम किसी बडे कमरे मे बैठ कर जो चलचित्र या दृश्य देख रहे हैं, उन मे से एक भी कोई न तो हमारे भीतर प्रवेश करता है और न हमारा ज्ञान उन मे प्रवेश करता है। किन्तु बाहर मे जो भी देख रहा है, वह उस से तन्मय हो कर अपने उपयोग मे जब राग–द्वेष, मोह भाव करता है, तब नियम से कर्मबन्ध होता है[१५१]। इस से यही सिद्ध होता है कि आत्मा का रागादि के साथ एकत्व को प्राप्त होना ही बन्ध है। दूसरे शब्दो मे, जब जीव परिणाम से एकत्व भाव को प्राप्त होता है, तो वह भावबन्ध है।

---

१५१ समयसार, गा० २४१ की आत्मख्याति टीका

यह भी स्पष्ट है कि ज्ञान की स्वच्छता में पदार्थ का प्रतिबिम्ब सहज झलकता है। आत्मा का सम्बन्ध तो ज्ञान रूप ज्ञेयाकारों से है; न कि पदार्थों से। परन्तु उन ज्ञेयाकारों के पदार्थ बाह्य आलम्बन होने से आत्मा उन रूपी पदार्थों को जानता है— ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इसी प्रकार आत्मा का सम्बन्ध उस उपयोग से है जो सोपराग होने से परद्रव्य के साथ एकत्व बुद्धि स्थापित करता है। भौतिक संसार में जिसे "मज़ा" कहते हैं, वह राग मे एकत्व बुद्धि के अलावा कुछ नहीं है। अत राग भाव में तन्मयता या एकत्व बुद्धि होना ही बन्ध है। पूर्ण बद्ध कर्मों के उदय में या कर्मविपाक के समय में सुख–दु खादि के विद्यमान् होने पर ममता भाव से अनुरक्त होना, यह परसंग है और यही बन्ध भी कहा जाता है।

वास्तव मे आस्रव–बन्ध परिणामों पर अवलम्बित हैं। सम्बन्धमूलक जो भी परिणाम हैं, वे सब बन्धकारक हैं। श्री केशववर्णी के शब्दो में रागादि रूप परिणमन आत्मा का स्वभाव है तथा रागादि उत्पन्न करना कर्म का स्वभाव है और दोनो में एकत्व भाव होना यही बन्ध है[१५२]।

पौद्गलिक बन्ध के लिए तो दो मात्रा स्निग्धता और दो मात्रा रूक्षता होना अनिवार्य है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से बन्ध अकारण नहीं होता, किन्तु उनके परस्पर बँधने मे उन की स्निग्ध पर्याय या रूक्ष पर्याय कारण होती है। परन्तु समान शक्ति–अश के विद्यमान होने पर समान जाति वालो का बन्ध नहीं होता। शक्ति के दो अशो से अधिक योग्यता वाले परमाणुओ या स्कन्धो का बन्ध होता है। जिन परमाणुओ में स्निग्ध और रूक्ष पर्याये जघन्य होती हैं, उनका बन्ध नहीं होता, वे तब तक परमाणु दशा मे ही रहती हैं। असमान शक्ति अंश वाले समान जातीय परमाणुओं का और समान शक्ति अंश वाले असमान जातीय परमाणुओ का बन्ध हो सकता है, लेकिन उसमे दो शक्ति अश अधिक होने चाहिए। उदाहरण के लिए, एक परमाणु मे स्निग्ध या रूक्ष गुण के तीन शक्त्यंश

---

१५२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० २ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा— एकीभावो बन्ध; सामीप्य सयोगो वा युति।" धवला, पु० १३, (५, ५, ८२), पृ० ३४८

हैं और दूसरे परमाणु मे पॉच शक्त्यश हैं,' तो इन दो परमाणुओं का बन्ध हो सकता है। प्रत्येक स्थिति में बॅधने वाले पुद्‌गलो में दो शक्त्यशो का अन्तर होना चाहिए।

प्रत्येक समय मे बन्ध तीन प्रकार से घटित हो रहा है–(१) पुद्‌गल का पुद्‌गल के साथ, (२) जीव का जीव के साथ और (३) जीव का पौद्‌गलिक कर्म के साथ। एक पुद्‌गल का दूसरे पुद्‌गल के साथ–स्नेह–रूक्षता के कारण सस्पर्श सम्बन्ध होता है। पुद्‌गल मे ऐसी ही स्वाभाविक योग्यता है, जिस के कारण स्निग्ध–रूक्षत्व योग्यता के द्वारा द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, सख्याताणुक, असख्याताणुक और अनन्ताणुक स्कन्ध की उत्पत्ति होती है[१५३]।

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि घातिया कर्मो को पाप कहते हैं। जिन से पाप कर्म का आस्रव–बन्ध होता है, वे पाप क्रियाएँ हैं। वे पापक्रियाएँ हैं– मिथ्यात्व, असयम (अविरति, प्रमाद) और कषाय। इन के अभाव को चारित्र कहते हैं[१५४]। ससार का कारण आस्रव–बन्ध है। इसलिये पुण्य–पाप को हेयतत्त्व कहा गया है। पुद्‌गल द्रव्य के पर्याय रूप आस्रव– बन्ध, पुण्य–पाप पदार्थो का कर्तृत्व मिथ्यादृष्टि जीव के अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से है और जीवभाव पर्याय रूप आस्रवबन्ध– पुण्य–पाप पदार्थो का कर्तृत्व अशुद्ध निश्चयनय से है। सम्यग्दृष्टि जीव के द्रव्य रूप सवर, निर्जरा और मोक्ष पदार्थो का कर्तृत्व है, वह भी अनुपचरित असद्‌भूत व्यवहारनय से है तथा जीवभाव पर्याय रूप सवर–निर्जरा–मोक्ष पदार्थो का कर्तृत्व एकदेश शुद्धनिश्चयनय से है, क्योकि परमशुद्ध निश्चयनय से तो जीव न तो उत्पन्न होता है और न मरता है, न बन्ध, मोक्ष करता है[१५५]। सिद्धान्त के अनुसार जो ज्ञानी

---

१५३ धवला पु० १४ (५, ६, १५), पृ० ६–११

१५४ पापकिरियाणिवित्तिचारित्त। घादिकम्माणि पाव। तेसि किरिया मिच्छत्तासजमकसाया। तेसिमभावो चारित्त।" धवला पु० ६ (१, ६, १), शास्त्राकार, पृ० २०

१५५ वृहद्‌द्रव्यसग्रह, गा० २७ की सस्कृत व्याख्या, पृ० ६६ से उद्‌धृत

है, वह शुद्ध ज्ञान पर्यायी है, इसलिये कर्म का बन्धक नहीं होता और जो जीव अज्ञान रूप पुद्गल कर्म के सम्बन्ध से शुद्ध ज्ञानी नहीं है किंवा अज्ञानी है, वह कर्मों का बन्धक है[१५६]। जिनागम में उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञानचेतना होती है, क्योंकि ज्ञानानुभूतिस्वरूप शुद्ध चेतना है और कार्यानुभूति स्वरूप तथा कर्मफलानुभूति स्वरूप अशुद्ध चेतना है[१५७]। अनुभूति का नाम चेतना है। वह अनुभूति ज्ञान, कर्म और कर्मफल के भेद से तीन प्रकार की है। जो ज्ञानभाव से निज स्वरूप का स्वसवेदन है सो ज्ञानचेतना है तथा जो कर्म का वेदन है सो कर्मचेतना है और कर्मफल का वेदन है सो कर्मफलचेतना है। ज्ञान के सिवाय अन्य "यह मैं हूँ" यह अज्ञान चेतना है। वह समस्त (कर्मचेतना, कर्मफलचेतना) अज्ञानचेतना ससार का बीज है, क्योकि ससार के बीज जो आठ प्रकार के ज्ञानावरण–दर्शनावरणादि कर्म हैं, उनका बीज अज्ञानचेतना है[१५८]। आचार्य अमृतचन्द्र तो अत्यन्त स्पष्ट स्वरो मे उद्घोष करते हैं कि जो जीव ससार का अभाव करना चाहते हैं, उन को सम्पूर्ण कर्मफल के सन्यास की भावना के साथ स्वभावभूत भगवती एक ज्ञानचेतना को ही सदा नचाना चाहिए।

जैनधर्म भावप्रधान हैं। एक समय मे जीव ऐसा परिणाम करता है कि अनन्त ससार बॉध लेता है और एक समय मे ऐसे शुद्ध चैतन्य शुद्ध भाव रूप परिणमता है कि ससार का अभाव कर देता है। आनुपूर्वी के अनुसार मिथ्यात्व, असयम तथा कषाय आदि को परिणाम कहा जाता है[१५९]। वस्तुतः

१५६. ज्ञानीति ज्ञान–पर्यायी कल्मषानामबन्धक।
अज्ञश्चाज्ञान–पर्यायी तेषा भवति बन्धक।। योगसारप्राभृत, अ० ४, श्लोक २६

१५७. आचार्य कुन्दकुन्द: पचास्तिकाय, गा० १६ तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा "समयसार" गा० ३१६ आत्मख्याति टीका

१५८ "ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतन अज्ञानचेतना।, सा तु समस्तमपि ससारबीज, ससारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्।।" समयसार, गा० ३८७ आत्मख्याति टीका

१५९. "को परिणामो? मिच्छत्तासजम–कसायादी।" धवला पु० १५ (षट्खण्डागम सतकम्म), पृ० १७२

वस्तु के भाव को परिणाम कहते हैं जो द्रव्य का स्वभाव है[१६०]। किन्तु कर्मशास्त्र में विकारी भाव सहित परिणमन को परिणाम कहा गया है। उसे अवस्था रूप परिणाम कह सकते हैं[१६१]। पर्यायो से परिणत होना, यह परिणाम शब्द का सामान्य अर्थ है। परिणाम दो प्रकार का कहा गया है– आदिमान और अनादिमान। आदिमान दो प्रकार का है– एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। बाहरी कारण से होने वाले उत्पाद, व्यय आदि विशेष हैं जो आदिमान परिणाम हैं। जो सक्लेश रूप या विशुद्ध रूप परिणाम प्रति समय बढते ही जाते हैं या घटते ही जाते हैं, उन को अपरिवर्तमान परिणाम कहते हैं, क्योकि वे परिणाम पलट कर वापस पीछे की ओर नहीं आते। जो पलट कर पुन उसी परिणाम मे आते है, उन को परिवर्तमान परिणाम कहते हैं[१६२]।

बन्ध के प्रकार-

बन्ध भाव और द्रव्य के भेद से दो प्रकार का कहा गया है। निमित्त की अपेक्षा तीन प्रकार का कहा गया है–जीवबन्ध, पुद्गल बन्ध और जीवपुद्गलबन्ध। एक शरीर मे रहने वाले अनन्तानन्त निगोद जीवो का जो परस्पर बन्ध है, वह जीवबन्ध कहलाता है। दो, तीन आदि पुद्गलो का जो समवाय सम्बन्ध होता है, वह पुद्गलबन्ध है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण वर्गणाओ का तथा जीवो का जो बन्ध होता है, वह जीव–पुद्गलबन्ध कहलाता है। आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्द हैं–"जेहि मिच्छत्तासजम–कसाय जोगादीहि जीव–पोग्गलाण बधो होदि सो जीव–पोग्गलबधो णाम। एव बध पि सो भयवतो जाणदि।" (धवला पु १३, पृ ३४७) अर्थात्– जिन मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग आदि के निमित्त से जीव और पुद्गलो का बन्ध होता है, वह जीव–पुद्गलबन्ध (उभयबन्ध) कहलाता है। इस बन्ध को भी वे भगवान् जानते हैं।

---

१६० प्रवचनसार, गा० १०६ तत्त्वप्रदीपिका टीका

१६१ तद्भाव परिणाम।– तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र ४२

१६२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० १७७ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा धवला पु० १२ (४, २, ७, ३१,) पृ० २७

'जिस अनुयोगद्वार मे कार्मणवर्गणा के कर्मरूप परिणमने की योग्यता को प्राप्त हुए पुद्गल स्कन्धो का जीव प्रदेशों के साथ मिथ्यात्व आदि के निमित्त से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का सम्बन्ध कहा जाता है, उस अनुयोगद्वार को 'बन्ध' कहते हैं। बन्ध का अर्थ है–कर्म भाव को प्राप्त मिथ्यात्व आदि। सक्रम का भी बन्ध मे अन्तर्भाव हो जाता है। इस दृष्टि से बन्ध के दो भेद हैं– अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध। उन मे से जो कार्मण वर्गणाओ मे से अकर्म रूप से स्थित परमाणुओ का ग्रहण होता है, वह अकर्मबन्ध है और कर्म रूप से स्थित पुद्गलो का अन्य प्रकृति रूप से परिणमना कर्मबन्ध है। वास्तव मे बॅधे हुए कर्म बन्धावलि के पश्चात् नोकषाय रूप से जब परिणमते हैं अर्थात् सक्रमित होते हैं, तब कर्मबन्ध कहलाता है, क्योकि कर्मरूपता का त्याग किए बिना ही वे कर्मान्तर रूप से बॅधते हैं। अत आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दो मे "कम्मबधो णाम कम्मसरूवेणावट्ठिद पोग्गलाणमण्ण पयडिसरूवेण परिणमण।" अर्थात् कर्म रूप से अवस्थित पुद्गलो का अन्य प्रकृति रूप से परिणमना कर्मबन्ध है। प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री के शब्दो मे "मिथ्यात्व आदि कारणो से जो नूतन बन्ध होता है, उसे यहाँ अकर्मबन्ध और सक्रम को कर्मबन्ध कहा है। आगम मे पुद्गल के जो तेईस भेद कहे हैं, उन मे कार्मणवर्गणा नामक एक स्वतन्त्र भेद है। वे कार्मण वर्गणाएँ ही मिथ्यात्व आदि के निमित्त से अकर्मपने का त्याग कर स्वय आकृष्ट हो कर कर्मरूप परिणत होती हैं। आत्मा के साथ इन का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने के पहले इन्हे कर्म सज्ञा नहीं प्राप्त हो सकती है।" *(कसायपाहुड भा १, पृ १७२ से उद्धृत)*

मुख्य रूप से बन्ध तीन प्रकार का कहा गया है– जीवबन्ध, पुद्गलबन्ध और जीव–पुद्गलबन्ध। जिस कर्म के कारण अनन्तानन्त जीव एक शरीर में रहते हैं, उस कर्म की जीवबन्ध सज्ञा है। जिस स्निग्ध और रूक्ष आदि गुण के कारण पुद्गलों का बन्ध होता है, उस की पुद्गलबन्ध सज्ञा है। जिन मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग आदि के निमित्त से जीव और पुद्गलो का बन्ध होता है, वह जीव– पुद्गलबन्ध कहलाता है[१६३]। कर्मबन्ध नौ प्रकार का कहा गया

---

१६३ धवला पु० १३ (५, ५, ८२), पृ० ३४७ से उद्धृत

है[164]— सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध, अध्रुवबन्ध, प्रकृतिस्थानबन्ध, भुजाकारबन्ध, अल्पतरबन्ध, अवस्थितबन्ध और स्वामित्व बन्ध।

सामान्यत कर्मयोग्य पुद्गल के चार प्रकार होने से बन्ध चार प्रकार का कहा जाता है[165]— प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। कर्म का बन्ध करने के लिए जीव को कहीं अन्य किसी प्रदेश से कर्म नहीं लाने पडते हैं। जीव के शुभ तथा अशुभ परिणाम के निमित्त से उस के साथ ही विस्रसोपचय रूप से अवस्थित कार्मण वर्गणाएँ जीव के समस्त प्रदेशों मे एक क्षेत्रावगाह हो कर कर्म रूप मे परिणत हो जाती हैं। प्रकृतिबन्ध चार प्रकार का होता है— (१) सादिबन्ध, (२) अनादिबन्ध, (३) ध्रुवबन्ध, (४) अध्रुवबन्ध। जिस कर्म के बन्ध का अभाव हो कर फिर वही कर्म बॅधता है, उसे सादिबन्ध कहते हैं। जिस कर्म के बन्ध का कभी अभाव नहीं हुआ है, उसका बन्ध अनादिबन्ध है। जिस बन्ध का आदि तथा अन्त न हो, वह ध्रुवबन्ध है, जैसे अभव्य जीव का बन्ध। जिस बन्ध का अन्त आ जाए, वह अध्रुवबन्ध है, जैसे भव्य जीव का बन्ध। जीवभावबन्ध तीन प्रकार का है[166]— विपाकप्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक जीवभावबन्ध। विपाक का अर्थ उदय और उदीरणा है। अविपाक का अर्थ उपशम और क्षय है तथा तदुभय का अर्थ क्षयोपशम है।

यहॉ पर जिस चेतनभाव का वर्णन किया गया है, वह अशुद्ध है, क्योकि कर्म रूप उपाधि के निमित्त से हुआ है। सामान्यत भावबन्ध और द्रव्यबन्ध एक जाति के पदार्थों मे होता है। पुद्गल कर्म का पुद्गल कार्मण वर्गणाओ के साथ बन्ध होना द्रव्यबन्ध है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और

---

*१६४ सादि अणादि य धुवद्धुवो य पयडिट्ठाण च भुजगारो।
अप्पयरमवट्ठिद च हि सामित्तेणावि णव होंति।। पचसग्रह, गा० २३२, पृ० १८१*

१६५. प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधय।— तत्त्वा०सूत्र, अ० ८, सूत्र ३

१६६ "जो सो जीवभावबधो णाम सो तिविहो—विवागपच्चइयो जीवभावबधो चेव अविवागपच्चइओ जीवभावबधो चेव तदुभयपच्चइओ जीवभावबधो चेव।।" धवला पु० १४ (५, ६, १४) पृ० ६

अनुभाग द्रव्यबन्ध के ही भेद हैं। कर्मस्कन्धों मे पृथक्–पृथक् प्रकृति (अज्ञानादि रूप फल प्रकृति) पाई जाती है[१६७]। इस प्रकृति–भेद के कारण ही कर्म के १४८ भेद कहे जाते हैं। मूल प्रकृतियाँ आठ हैं, क्योंकि एक समय में बँधे हुए सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के स्कन्धों के प्रकृति–समूह का मूल प्रकृति रूप मे ग्रहण किया जाता है। मोहनीय कर्म की अलग–अलग २८ प्रकृतियों को उत्तर प्रकृतियॉ कहा जाता है। इन कर्मप्रकृतियो का सादिबन्ध, अनादिबन्ध, ध्रुवबन्ध और अध्रुवबन्ध रूप चार प्रकार का बन्ध पाया जाता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय इन छह कर्मों का चारो प्रकार का बन्ध होता है। वेदनीय कर्म का सादिबन्ध को छोड कर शेष तीन प्रकार का बन्ध होता है। आयु कर्म का अनादि और ध्रुवबन्ध के अतिरिक्त दो प्रकार का बन्ध होता है[१६८]। उत्तर प्रकृतियों मे भी जो सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं, उन का चारों प्रकार का बन्ध होता है। सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियॉ इस प्रकार हैं[१६९]– पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पॉच अन्तराय, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, निर्माण, वर्णादि चार, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजस शरीर, कार्मण शरीर और उपघात। बन्ध–व्युच्छित्ति के पूर्व इनका निरन्तर बन्ध होता रहता है। बन्ध–वियोग को बन्ध–व्युच्छिति कहते हैं।

सम्पूर्ण कर्मप्रकृतियाँ १४८ हैं। उन मे से सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति का बन्ध ही नहीं होता। बन्धयोग्य १२० प्रकृतियो मे से ४७ प्रकृतियॉ ध्रुवबन्धी हैं, ७३ प्रकृतियॉ अध्रुवबन्धी हैं।

---

१६७ "बद्धउदिण्णुवसतभेदेण·ड्डिदसव्व पि कम्म पयडी होदि, प्रक्रियते अज्ञानादिक फलमनया आत्मन. इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्ते ।" नैगमनय से बद्ध, उदीर्ण, उपशान्त के भेद से सभी कर्म प्रकृति रूप हैं, क्योकि उनके द्वारा अज्ञानादिक फल किया जाता है।– धवला पु० १२ (४, २, १०, २) पृ० ३०३ से उद्धृत

१६८ साइ अणाइ य धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्मछक्कस्स।
तइए साइयसेसा अणाइ धुवसेसओ आऊ।। पचसग्रह, गा० २३५, पृ १८२

१६९. आवरण विग्घ सव्वे कसाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचदु।
भयणिदागुरुतेयाकम्मुवघायं धुवाउ सगदाल।। वही, गा० २३७, पृ० १८३

कर्मद्रव्य बन्ध, उदय और सत्त्व के भेद से तीन प्रकार का कहा जाता है। यद्यपि बन्ध और सत्त्व जीव से अभिन्न है, तथापि ऋजुसूत्रनय की दृष्टि मे क्रोध कर्म के उदय की अपेक्षा से क्रोध कषाय होती है। (कसायपाहुड, भा १, पृ २६४) यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनो द्रव्यार्थिक नय है। इसलिये इन तीनो नयों की मुख्यता से प्रत्ययकषाय की अपेक्षा क्रोधादि वेदनीय कर्म को प्रत्ययकषाय कहना उचित ही है। स्पष्टत कार्य से अभिन्न कारण को प्रत्यय रूप से स्वीकार किया गया है। प गोपालदासजी वरैया के शब्दो में "विपरीत परिणमन की अपेक्षा से ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय को एक मोहनीयकर्म मे गर्भित किया गया है। मिथ्यादृष्टि के मोहनीय के सिवाय अन्य तीनो कर्मों का अधिक क्षयोपशम होते हुए भी जो सुख प्रकट होता है, उसको मोहनीय विपरीत अनुभव कराता है।" (गुरु गोपालदास बरैया स्मृति–ग्रन्थ, पृ २११) अत जब तक मिथ्यात्वकर्म का उदय रहता है, तब तक यह जीव अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है। अनन्त गुणो से विलसित होने पर भी जीव के अनन्त गुणो मे से केवल पॉच गुणो का कर्म से सम्बन्ध है– चेतना, वीर्य, सुख, सम्यक्त्व और चारित्र। आत्मा की जिस शक्ति से पदार्थों का प्रतिभास होता है, उसे चेतना कहते हैं। विषय के भेद से चेतना के दो भेद कहे जाते हैं– दर्शन और ज्ञान। पदार्थ के सामान्य प्रतिभास को दर्शन तथा विशेष प्रतिभास को ज्ञान कहते हैं। परन्तु ज्ञान गुण कर्मबन्ध मे कारण नहीं है। अत ज्ञान कर्मबन्ध का प्रत्यय भी नहीं है।

बन्ध के प्रमुख प्रत्यय-

पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, मिथ्यात्व, तैजस, कार्मण शरीर, वर्णादिक चार, अगुरुलघु, स्थिर–अस्थिर, शुभ–अशुभ, निर्माण और पॉच अन्तराय ये २७ प्रकृतियॉ स्वोदय से बँधती हैं। मिथ्यादृष्टि चारो गतियो के जीव स्वामी हैं। १४ प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि के सादिक होता है, क्योंकि उपशमश्रेणी में बन्धव्युच्छेद करके पुन नीचे उतर कर बन्ध का प्रारम्भ करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीवो के उन प्रकृतियो का सादिकबन्ध पाया जाता है। अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव के उन प्रकृतियों

के बन्ध का कभी व्युच्छेद नहीं होता, अतः अनादिक बन्ध होता है। (धवला पु ८, पृ २६) कर्मबन्ध के मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चार मूल प्रत्यय हैं। (धवला पु ८, पृ २०) आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दो मे–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वां।। समयसार गा १०६

अर्थात–मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग से चार सामान्य प्रत्यय निश्चय से बन्ध के कर्ता कहे जाते हैं। इन के ही विशेष भेद करने पर मिथ्यादृष्टि से ले कर सयोगकेवली पर्यन्त तेरह तरह के बन्ध के कर्ता हैं। अत तेरह गुणस्थान रूप विशेष प्रत्यय हैं।

बन्ध के प्रत्ययो मे मिथ्यात्व एक प्रमुख बन्ध प्रत्यय है, क्योकि मिथ्यात्व ध्रुवबन्धिनी प्रकृति है। सोलह कर्मप्रकृतियो का मिथ्यात्व रूप परिणाम के साथ ही नियम से बन्ध होता है, अन्यथा नहीं। (महाबन्ध पु. ४, पृ १८६) आचार्य वीरसेनस्वामी का कथन स्पष्ट है–क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, चोरी इन से कषाय प्रत्यय की प्ररूपणा की गई है। (धवला पु १२, पृ २८६) मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन से मिथ्यात्व प्रत्यय की प्ररूपणा की गई है। यही नहीं, मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययो के आश्रय से उत्पन्न हुई आठ शक्तियो से सयुक्त जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गल स्कन्धो का आठ कर्मो के आकार से परिणमन होने मे कोई विरोध नहीं है। यह भी एक प्रमुख नियम है कि जिसके बिना जो नियम से नहीं पाया जाता है, वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है– ऐसा समस्त नैयायिक जनो मे प्रसिद्ध है। (धवला पु १२, पृ २८७,२८८)

स्थूल ऋजुसूत्रनय की विवक्षा में स्थिति और अनुभाग बन्ध का एक मात्र कारण कषाय तथा प्रकृति एव प्रदेशबन्ध का एक मात्र कारण योग कहा गया है। इस कथन पर यह प्रश्न है कि मिथ्यात्व को बन्ध के कारणो मे क्यो नहीं परिगणित किया गया है? समाधान यह है कि कषाय की वृद्धि और हानि से स्थिति व अनुभाग की वृद्धि व हानि देखी जाती है। इसी प्रकार योग की वृद्धि तथा हानि से प्रदेशबन्ध की वृद्धि व हानि

परिलक्षित होती है। इसलिये यह कहाँ गया है– "जोगा पयडिपदेसे ट्ठिदि–अणुभागे कसायदो कुणदि"।।

अर्थात्– योग प्रकृति व प्रदेशबन्ध को तथा कषाय स्थिति व अनुभागबन्ध को करने वाली है। लेकिन इसके आगे आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं–"जदि एव तो दव्वट्ठियणएसु पुव्विल्ले सु तीसु वि पाणादिवादादीण पच्चयत्त कत्तो जुज्जदे? ण, तेसु सतेसु णाणावरणीय बंधुवलभादो।" अर्थात्– यदि ऐसा है, तो पूर्वोक्त तीनो ही द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा प्राणातिपातादिको को प्रत्यय बतलाना कैसे उचित है? समाधान है कि नहीं, क्योंकि उनके होने पर ज्ञानावरणीय का बन्ध पाया जाता है। (धवला पु १२ पु २८६) अत आचार्य अकलकदेव का कथन स्पष्ट है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पॉचो हेतु समस्त रूप से अथवा अकेले व्यस्त रूप से बन्ध के कारण हैं। क्योंकि मिथ्यात्वादि हेतुओ के अभाव मे नवीन कर्मों का आना रुक जाता है। कारण के अभाव मे कार्य का भी अभाव हो जाता है। (तत्त्वार्थ राजवार्तिक अ ८, सूत्र १) फिर, योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध होता है– यह इसलिये कहा गया है कि योग अनुभागबन्ध का कारण नहीं है। (धवला पु १२, पृ ११६)

सामान्य और विशेष प्रत्यय-

"षट्खण्डागम" के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर तो आचार्य वीरसेन मिथ्यात्व प्रकृति को सब से तीव्र अनुभाग से युक्त कहते है (धवला पु १२, पृ ६०), वहीं कषाय प्रत्यय से स्थिति व अनुभाग का विधान करते हैं। (धवला पु १२, पृ २८८) यही नहीं, कई आचार्य मिथ्यात्वादि को प्रकृतिबन्ध का कारण कहते हैं, तो कुछ आचार्य योग को प्रकृतिबन्ध का कारण कहते हैं। इस विरोधाभास का कारण यही प्रतीत होता है कि कारण दो प्रकार के कहे गए हैं– सामान्य और विशेष। जैसे कि गति के लिए धर्म द्रव्य सामान्य कारण है तथा जलचर जीवो के लिए जल एव थलचर जीवो के लिए स्थान विशेष प्रत्यय है। धर्म द्रव्य के रहते हुए भी जल न हो, तो जलचर जीव गति नहीं कर सकता है। इसी प्रकार योग के सद्भाव मे, यदि मिथ्यात्व न हो, तो १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं हो सकता और यदि अनन्तानुबन्धी विषयक

असयम न हो, तो २५ प्रकृतियों का बन्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न प्रकृतियो के भिन्न–भिन्न विशेष प्रत्यय हैं।

कषाय सामान्य हेतु प्रत्यय है तथा मिथ्यात्व विशेष हेतु प्रत्यय है। प फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री के शब्दों मे "करणानुयोग आगम में कहीं कथचित् भेद के कथन करने की मुख्यता रहती है और कहीं कथचित् अभेद से कथन करने की मुख्यता रहती है, अन्यथा ओघप्ररूपणा नहीं बन सकती। आदेशप्ररूपणा भेद को ध्यान में रख कर कथन करती है। अभेद से कथन करना, यह किसी अपेक्षा से द्रव्यानुयोग का विषय है, क्योकि उस में भेद की विवक्षा गौण हो जाती है।" (अकिंचित्कर' एक अनुशीलन, पृ २७, २८) अतएव निम्न–लिखित कारणों से यह निश्चित हो जाता है कि प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व एक ध्रुवबन्धी प्रकृति है, जिस का बन्ध नियम से मिथ्यात्व परिणाम से होता है– (१) अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाला जीव सम्यक्त्व आदि के परिणामो से च्युत हो कर यदि मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है, तो उसके प्रारम्भ से ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध हो कर भी एक आवलि काल तक अपकर्षण पूर्वक उस की उदय–उदीरणा नहीं होती, ऐसा नियम है[१७०]। अत ध्रुवबन्धी होने से मिथ्यात्व से ही चारों प्रकार का मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का बन्ध होता है। तब प्रश्न यह है कि उस के एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होने पर उस के उदय मे बॅधने वाली २५ प्रकृतियॉं बॅधेगी या नहीं? और यदि उन का बन्ध होता है, तो उन मे स्थिति और अनुभाग बन्ध किस कषाय के आधार पर होगा?

प्रश्न का समाधान यह है कि ऐसे जीव के मिथ्यात्व को प्राप्त होने के प्रथम समय मे ही चारित्रमोहनीय के कर्मस्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूप से परिणत हो जाते हैं, इसलिये उस के चौबीस प्रकृतियो की सत्ता न रह कर अट्ठाईस प्रकृतियों की हो जाती है[१७१]। अनन्तानुबन्धी चतुष्क के

---

१७० "सजोदिद अणताणुबधीणमावलियामेत्तकालमुदीरणाभावादो।" धवला पुस्तक १५ (सतकम्म), पृ० ७५

१७१. "अट्ठावीससंतकम्मिएण अणंताणुबधीविसंजोइदे चउबीस विहत्तिओ होदि। को विसजोअओ? सम्मादिट्ठी।" कसायपाहुड भा. २ (पयडिविहत्ती) पृ० २१८

स्कन्धो के पर प्रकृति रूप से परिणमा देने को ही विसयोजना कहते हैं[१७२]। अत प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी भी ध्रुवबन्धी प्रकृति है, इसलिये विसयोजक के मिथ्यात्व मे आते ही प्रथम समय से ही उस जीव के अनन्तानुबन्धी का बन्ध होने लगता है।

(२) मिथ्यात्वादि १६ प्रकृतियो के बन्ध का कारण मिथ्यात्व का उदय है। मिथ्यात्व के उदित होने पर इन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है और इनके उदय न होने पर बन्ध नहीं होता। इसलिये मिथ्यात्व के उदय के अन्वय–व्यतिरेक के साथ सोलह प्रकृतियो के बन्ध का अन्वय–व्यतिरेक पाया जाता है। अत ये सोलह प्रकृतियॉ मिथ्यात्व से ही बॅधती हैं।

(३) मिथ्यात्व प्रकृति के बन्ध का अविनाभाव सम्बन्ध जैसा मिथ्यात्व परिणाम के साथ पाया जाता है, वैसा अन्य प्रत्ययो के साथ नहीं पाया जाता।

(४) यद्यपि कषाय एक विशेष प्रत्यय है जो स्थिति, अनुभाग मे कारण है, तथापि स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान तथा कषायोदयस्थान समान नहीं हैं। अतएव सब मूल प्रकृतियो के अपने–अपने उदय से जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनकी ही अपनी–अपनी स्थिति के बन्ध मे कारण होने से स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान सज्ञा है[१७३]।

(५) मिथ्यात्व के बिना कषाय तीव्र नहीं होती। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि यदि कषाय मात्र उत्कर्षण का कारण होती, तो यह सूत्र निरर्थक हो जाता। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योकि तीव्र मिथ्यात्व, अरहत, सिद्ध, बहुश्रुत एव आचार्य की आसादना और तीव्र कषाय उत्कर्षण का कारण है[१७४]। वास्तव मे तीर्थंकरादिको की आसादना रूप मिथ्यात्व के बिना तीव्र कषाय नहीं होती, वैसा पाया नहीं जाता है। जो मनुष्य अरहत,

---

१७२ "का विसजोयणा? अणताणुबधिचउक्कखधाण परसरूवेण परिणमण विसजोयणा।" वही, पृ० २१६

१७३ "तम्हा सव्वमूलपयडीण सग–सग उदयादो समुप्पण्णपरिणामाण सग–सगट्ठिदिबधकारणत्तेण ट्ठिदिबधज्झवसाणट्ठाणसण्णिदाण एत्थ गहण कायव्व।" धवला पु० ११ (वेयणाखड, ४, २, ६, १६५), पृ० ३१०

१७४. वही, (४, २, ४, ११), पृ० ४२

सिद्ध, जिनप्रतिमा, तप, निर्ग्रन्थ गुरु, श्रुत, धर्म, सघ के प्रतिकूल होता है, उन के झूठा दोष लगाता है, वह दर्शनमोहनीय या मिथ्यात्व का बन्ध करता है जो अनन्त ससार का कारण है[१७५]।

(६) अनन्तानुबन्धी चतुष्क का विसयोजन करके मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीव के आवलि मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी चतुष्टय का उदय न रहने से शेष बारह कषायों मे से तीन कषाय प्रत्यय, तीन वेदो में एक, हास्य–रति, अरति–शोक इन दो युगलो मे से एक युगल, दश योगों में से एक, पॉच मिथ्यात्वो मे से एक तथा विराधना रूप दो असयम प्रत्यय, इस प्रकार ये सब ही जघन्य से दश प्रत्यय होते हैं[१७६]। इन दश प्रत्ययो मे मात्र अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो को ही नहीं, वरन् मिथ्यात्व प्रत्यय को भी गिनाया गया है। इस से सुस्पष्ट होता है कि उदय ही परोदयी अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध करता है, शेष अप्रत्याख्यानादि मिथ्यात्व का बन्ध नहीं कर सकती, क्योकि उन का अनुभाग मिथ्यात्व से अनन्तगुना हीन होता है।

(७) यह भी निश्चित है कि अनन्तानुबन्धी का बन्ध निरन्तर होता रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे पतित होते ही प्रत्येक ससारी जीव को नियम से प्रथम समय मे ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध होने लगता है। यह भी एक तथ्य है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ के वहॉ पर बन्ध होने मे मिथ्यात्व का उदय ही कारण है[१७७]।

(८) मिथ्यात्व स्वबन्धी कर्म–प्रकृति है। अनन्तानुबन्धी के उदय मे योग मे शक्ति–उत्पादकता नहीं होती। इसलिये मिथ्यात्व के अभाव मे सासादन गुणस्थान मे सोलह प्रकृतियों का आस्रव नहीं होता, जबकि

---

१७५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ८०२

१७६ "अणताणुबधिचउक्क विसजोजिय मिच्छत्तं गयस्स आवलियमेत्तकालमणताणुबधिचउक्कस्सुदयाभावादो बारससु कसाएसु तिण्णि कसायपच्चया, तिसुवेदेसु एक्को, हस्स–रदि–अरदि–सोग दोसुजुगलेसु एक्कदर जुगल दससु जोगेसु एक्को जोगो, एवमेदे सव्वे वि जहण्णेण दस पच्चया।—धवला पु० ८, (३, ६) पृ० १३

१७७ धवला पु० १ (जीवट्ठाण १, १, १०), पृ० १६३, द्रष्टव्य है।

विसयोजना–काल मे प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय से योग मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिस के द्वारा सोलह प्रकृतियो का तथा अनन्तानुबन्धी आदि का आस्रव होता है।

(९) चूर्णिसूत्रो के अनुसार यह भी स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के योग्य जघन्य अनुभाग सक्रमण से उत्कृष्ट सक्लेश को प्राप्त हो कर जिस अनुभाग को बॉधता है, वह अनुभागबन्ध बहुत है[१७८]। आवलि–काल व्यतीत होने पर उस के मिथ्यात्व के अनुभाग की वृद्धि होती है। उस ही जीव के अनन्तर समय मे मिथ्यात्व के अनुभाग का उत्कृष्ट अवस्थान होता है[१७९]।

(१०) यह भी स्पष्ट है कि अनन्तानुबन्धी विसयोजित हो कर नि सत्त्व हो जाती है। ऐसी स्थिति मे प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के निमित्त से ही वह सयोजित हो कर पुन सत्ता मे आती है[१८०]।

(११) यह भी एक प्रबल तथ्य है कि जब आवलि–काल तक आबाधा मे अनन्तानुबन्धी के निषेक ही नहीं होते है, उदीयमान प्रथम निषेक से ले कर उदयावलि पर्यन्त निषेको की श्रृखला मे अनन्ता–नुबन्धी चतुष्क का एक परमाणु भी नहीं होता है, तब अनन्तानुबन्धी से मिथ्यात्व की बात करना हास्यास्पद मात्र है[१८१]।

(१२) कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे यह अत्यन्त स्पष्ट है कि स्निग्ध और रूक्ष के सम्मिश्रण के बिना बन्ध नहीं हो सकता है। आगम मे कथन सर्वत्र दो प्रकार के है– सामान्यत और विशेष रूप से। जैसे

---

१७८ कसायपाहुडसुत्त (५, सक्रम–अर्थाधिकार गा० ५८), पृ० ३८३

१७९ "मिच्छत्तस्स उक्कसिया वड्ढी कस्स? सण्णिपाओग्गजहण्णएण अणुभागसकमेण अच्छिदो उक्कस्ससकिलेस गदो, तदो उक्कस्सयमणुभाग पबद्धो, तस्स आवलियादीदस्स उक्कस्सिया वड्ढी। तस्स चेव से काले उक्कस्सयमवट्ठाण।" वही, पृ० ३८३

१८० कसायपाहुड, भा० ४, पृ० २४

१८१ प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री अकिचित्कर एक अनुशीलन, द्रष्टव्य है– पृ० ५०–५६, ८० तथा ८७

कि– 'मोह' तो सामान्यत दर्शन और ज्ञान के साथ समान है, तभी दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय मे 'मोहनीय' शब्द का प्रयोग लक्षित है, क्योकि दोनो मे एक ही तरह की रजना, आसक्ति, या चिपकाहट है।

क्या मिथ्यात्व बन्धप्रत्यय नहीं है?

जिनागम मे बन्ध के मुख्य प्रत्यय चार कहे गए है। उन मे मिथ्यात्व प्रथम तथा प्रमुख बन्धप्रत्यय है। प. श्री जगन्मोहनलाल जी शास्त्री का यह कथन किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है कि मिथ्यात्व के उदय मे अनन्तानुबन्धी से मिथ्यात्व का बन्ध होता है, किन्तु मिथ्यात्व से नहीं होता है, मिथ्यात्व तो आश्रय मात्र है। श्री भगवन्त भूतबलि भट्टारक कहते है– मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, चार जातियॉ, हुण्ड सस्थान, असम्प्राप्तासृपाटिकासहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर आदि का बन्ध मिथ्यात्वप्रत्यय से होता है[१८२]। प्रत्यय प्ररूपणा की अपेक्षा पॉच ज्ञानावरण, छह दर्शनावरण, असातावेदनीय, आठ कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, देवायु, देवगति, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र सस्थान, वैक्रियिक आगोपाग, प्रशस्त–अप्रशस्त वर्णचतुष्क, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघुचतुष्क, प्रशस्त विहायोगति, त्रसचतुष्क, स्थिर–अस्थिर, शुभ–अशुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, निर्माण, उच्च गोत्र और पॉच अन्तराय इन पैंसठ प्रकृतियो मे से प्रत्येक प्रकृति का बन्ध मिथ्यात्वप्रत्यय, असयमप्रत्यय और कषायप्रत्यय से होता है[१८३]। आगम मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि ओघ से पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पॉच नोकषाय, हुण्डसस्थान, अप्रशस्त वर्णचतुष्क, उपघात, अप्रशस्त विहायोगति, अस्थिर आदि छह, नीच गोत्र और पॉच अन्तराय के उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का स्वामी कौन है? पचेन्द्रिय, सज्ञी, मिथ्यादृष्टि, सब पर्याप्तियो के द्वारा पर्याप्तक, साकार–जागृत, नियम से उत्कृष्ट सक्लेश युक्त और उत्कृष्ट

---

१८२ महाबन्ध पु० ४ (अनुभागबन्धाधिकार), पृ० १८६

१८३. "एत्तो एक्केक्कस्स पगदीओ मिच्छत्तपच्चय असंजमपच्चयं कसायपच्चयं।" वही, पृ० १८५

अनुभागबन्ध करने वाला अन्यतर चार गति का जीव उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट अनुभागबन्ध का स्वामी है[१८४]।

'कसायपाहुड' मे एक मोहनीय कर्म का विस्तृत वर्णन किया गया है। अत उसकी विभिन्न प्रकृतियो के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश सम्बन्धी विभागो की विभक्ति सज्ञा सार्थक है। बन्धक अधिकार मे बन्ध और सक्रम नाम के दो अधिकार हैं। मिथ्यादर्शनादि कारणो से कार्मण पुद्गल स्कन्धो का जीव के प्रदेशो के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं और बधे हुए कर्मों का यथासम्भव अपने अवान्तर भेदो मे परिवर्तित होने को सक्रम कहते हैं। बन्ध और सक्रम को एक बन्धक सज्ञा देने का कारण यह है कि बन्ध के दो भेद हैं– अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध। नवीन बन्ध को अकर्मबन्ध और बँधे हुए कर्मो के परस्पर सक्रान्त हो कर बँधने को कर्मबन्ध कहते हैं। अत कर्मबन्ध का नाम सक्रम कहा गया है।

दर्शनमोहनीय का उपशमन करने वाला जीव जब तक अन्तरप्रवेश नहीं करता है, तब तक उसके नियम से मिथ्यात्वकर्म का उदय बना रहता है। अत उपशामक के मिथ्यात्वप्रत्ययक कर्मबन्ध होता है। मिथ्यात्व के बन्ध के लिए किसी अन्य कर्मप्रकृति की कल्पना करना दूर की कौडी लाना है, क्योकि मिथ्यात्व स्वत बन्धप्रत्यय है। आचार्य गुणधर "कसायपाहुड" के मूल सूत्र मे कहते है कि मिथ्यात्वप्रत्यय से निश्चय से बन्ध जानना चाहिए[१८५]। जब तक दर्शनमोह का उपशमन कार्य पूर्ण नहीं होता, तब तक स्पष्ट रूप से मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है[१८६]। श्री

---

१८४ "उक्कस्सओ अणुभागबधो कस्स०? अण्ण० चदुगदियस्स पचिदियस्स सण्णि० मिच्छादिट्ठिस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तगदस्स सागार–जा० णियमा उक्करससकिलिट्ठस्स उक्कस्सए अणुभागबधे वट्ट०।"–वही, पृ० १८८ से उद्धृत

१८५ मिच्छत्तपच्चयो खलु बधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसते आसाणे तेण पर होइ भजियव्वो।। कसायपाहुड सुत्त, गा० १०१

१८६ "मिच्छत्त पच्चओ कारण जस्स सो मिच्छत्तपच्चओ खलु परिप्फुड बधो दसणमोहोवसामगस्स जाव पढमट्ठिदिचरमसमओ त्ति ताव बोद्धव्वो।" वही, सूत्र १७३२.

नेमिचन्द्राचार्य कहते हैं कि भेद–विवक्षा से बन्ध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ छियालीस है, क्योकि सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति इन दो प्रकृतियो का बन्ध नहीं होता, किन्तु अभेद–विवक्षा से एक सौ बीस प्रकृतियॉ बन्ध योग्य होती है। भेद–विवक्षा से उदय के योग्य सभी यानी एक सौ अडतालीस प्रकृतियॉ हैं, किन्तु अभेद–विवक्षा से एक सौ बाईस प्रकृतियॉ ही उदय के योग्य कही गई हैं[१८७]। आठो कर्मों की सभी एक सौ अडतालीस प्रकृतियॉ सत्त्वयोग्य मानी गई है[१८८]। मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती कर्मप्रकृति है[१८९]। मिथ्यात्व रूप दर्शन मोहनीय सभी कर्मों में प्रधान है, इसलिये इसे कर्मसम्राट् या मोहराज कहते हैं। इस के तीव्र बन्ध से जीव को अनन्त काल तक ससार मे भटकना पडता है। जिस मे जो अवगुण नहीं है, उस मे उस के निरूपण करने को अवर्णवाद कहते है। वीतरागी अष्टादश दोष रहित अर्हन्तो के भूख–प्यास की बाधा बतलाना, रोगादि की उत्पत्ति कहना, सिद्धो का पुनरागमन बतलाना, तपस्वियो मे दूषण लगाना, हिसा मे धर्म बतलाना, मद्य–मास–मधु के सेवन को निर्दोष कहना, निर्ग्रन्थ साधु को निर्लज्ज कहना, कुमार्ग का उपदेश देना, सन्मार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति करना, धर्मात्माओ को दोष लगाना, कर्म से लिप्त ससारियो को सिद्ध कहना, सिद्धो मे असिद्धत्त्व प्रकट करना, असर्वज्ञ को सर्वज्ञ और सर्वज्ञ को असर्वज्ञ कहना, इत्यादि कारणो से ससार के बढाने वाले और सम्यक्त्व का घात करने वाले मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय कर्म का तीव्र बन्ध होता है[१९०]। मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं पाया जाता है। प जवाहरलाल शास्त्री के शब्दो मे "मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं पाया जाता है, चाहे उस के उदय के बिना अन्य कषायो का कैसा भी उदय हो? मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यात्व का बन्ध नियमत होता ही है।

---

१८७ कर्मप्रकृति, गा० १०७ तथा सस्कृत टीका

१८८ वहीं, गा० १०८

१८९ केवलणाणावरण दसणछक्क कसायवारसय।
मिच्छ च सव्वघादी सम्मामिच्छं अबधम्हि।। गा० १०९

१९० वही, गा० १४७

अत मिथ्यात्व के बन्ध का कारण मिथ्यात्व है। सातिशय मिथ्यात्वी के अत्यन्त विशुद्ध परिणामो के कारण छियालीस प्रकृतियो का सवर हो जाता है, परन्तु मिथ्यात्व का सवर नहीं होता। इस का कारण क्या है? ढूँढने पर ज्ञात होगा कि इस का कारण मात्र उदित मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ऐसा है कि जो मिथ्यात्व गुणस्थान मे भव्य जीवो के अनन्तानुबन्धी के उदयाभाव (अनन्तानुबन्धी के विसयोजक सम्यक्त्वी के मिथ्यात्वी होने पर उसके जघन्य युक्तासख्यातप्रमाण असख्यात समयों तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं आता) मे भी मिथ्यात्व का बन्धक होता है। यहाँ (इस अवस्था मे) यदि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो को मिथ्यात्व प्रकृति का बन्धक कहा जाता है, तो हम कहते हैं कि तब ये ही अप्रत्याख्यानावरणादि कषायें सासादनादि जीवो के भी मिथ्यात्व की बन्धक माननी पडेगीं जो आगम विरुद्ध है। अत जो मिथ्यात्व को मिथ्यात्व आदि के बन्ध का कारण नहीं मानते हैं, वे बन्धतत्त्व विषयक भूल करते हैं[१६१]। "अध्यात्म अमृत कलश" (पृ. ६३) में स्वय प. जगन्मोहनलालजी ने लिखा है—"जीव चार कारणों से बन्ध को प्राप्त होता है— मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये चारों बन्ध के कारण हैं। ये चार सामान्य प्रत्यय हैं।"

जिनागम मे बन्ध के जो कारण कहे गए हैं, उनमे मिथ्यात्व का अवश्य उल्लेख किया गया है। यदि मिथ्यात्व बन्धप्रत्यय नहीं होता, तो वेदनाप्रत्यय विधान मे, प्राणातिपात मे, आस्रव (भावास्रव) आदि मे इसे क्यो गिनाया गया है? 'षट्खण्डागम' के अट्ठारहवे अनुयोगद्वार मे सत्कर्म के अन्तर्गत यह कथन किया गया है कि यदि मिथ्यात्वादिक प्रत्ययो के द्वारा कार्मण वर्गणा के स्कन्ध आठ कर्म रूप से परिणमन करते हैं, तो समस्त कार्मण वर्गणा के स्कन्ध एक समय मे आठ कर्म रूप से क्यो नहीं परिणत हो जाते है, क्योकि उनके परिणमन का कोई नियामक नहीं है? उत्तर मे कहा गया है—नहीं, क्योकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव

---

१६१ करणदशक, श्री शन्तिनाथ जिनालय, नई आबादी, मन्दसौर से प्रकाशित, पृ० २३–२४ से उद्धृत

इन चार नियामकों द्वारा नियम को प्राप्त हुए उक्त स्कन्धों का कर्म रूप से परिणमन पाया जाता है[१६२]।

जब तक जिस जीव के अभिप्राय मे मिथ्या भाव वसा हुआ है, तब तक उस के मिथ्यात्व परिणाम के निमित्तक मिथ्यात्व का बन्ध नियम से होता है। अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला जीव सम्यक्त्व आदि रूप परिणामो से च्युत हो कर यदि मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है, तो उसके प्रारम्भ से ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध हो कर भी एक आवलि काल तक अपकर्षण पूर्वक उसकी उदय–उदीरणा नहीं होती, ऐसा नियम है[१६३]। अत ऐसे जीव के एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी क्रोधादि रूप परिणाम के न होने पर भी मिथ्यात्व परिणाम निमित्तक मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध अवश्य होता है।

मिथ्यात्व-बन्ध का प्रमुख प्रत्यय है

यथार्थ मे मिथ्यात्व भावस्वरूप है। यह सभी शास्त्रज्ञ जानते हैं कि कर्म का बन्ध जीव के परिणाम से ही होता है। न्यायशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार मिथ्यात्व को बन्ध का प्रत्यय सिद्ध करने के लिए उस का प्रतिपक्षी होना आवश्यक है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है–

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठी त्ति णादव्वो।। समयसार, गा १६१

अर्थात्–सम्यक्त्व को रोकने वाला मिथ्यात्व है–ऐसा जिनवरो ने कहा है। उस मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है– यह जानना चाहिए।

---

१६२ जदि मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मइयवग्गणक्खधा अट्ठाकम्मागारेण परिणमति तो एगसमयेण सव्वकम्म इयवग्गणक्खधा कम्मागारेण किं ण परिणमति, णियमाभावादो? ण, दव्व–खेत्त–काल–भावे त्ति चदुहि णियमेहि णियमिदाण परिणामुवलभादो।"–धवला पु. १५, पृ० ३४ से उद्धृत

१६३ "सजोजिदअणताणुबधीणमावलियामेत्तकालमुदीरणाभावादो।"–वही, पृ. ७५

जिनवरो के द्वारा यह भी कहा गया है कि ज्ञान का प्रतिबन्धक अज्ञान है तथा चारित्र की प्रतिबन्धक कषाय है। अत मिथ्यात्व और कषाय के कार्य भिन्न–भिन्न है। मिथ्यात्व का काम कषाय नहीं कर सकती और कषाय का काम मिथ्यात्व नहीं कर सकता। यह मूल दृष्टि जिनागम मे सर्वत्र लक्षित होती है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि मोक्ष के हेतु सम्यक्त्व स्वभाव का प्रतिबन्धक मिथ्यात्व है जो स्वय कर्म ही है। उस मिथ्यात्व के उदय से ही मिथ्यादृष्टिपना होता है। अत कर्म मिथ्यात्वादि भाव–स्वरूप हैं। जो भाव मोक्ष के कारणभूत है, उन से मिथ्यात्व विपरीत है। वास्तव मे यह दृश्यमान जगत् कर्मबन्ध का परिणाम है। यदि सभी द्रव्य अपने–अपने स्वभाव मे रहे, तो ससार रूप परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकते और तब ससार का अभाव ठहरेगा। इसीलिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से ससार पच परावर्तन रूप है।

जिन विद्वानो का यह तर्क है और जो यह मानते है कि आगम मे "जोगा पयडिपदेसा ठिदि–अणुभागो कसायदो होति" अर्थात् योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते है। इन मे मिथ्यात्व से बन्ध होता है, ऐसा कहाँ साक्षात् लिखा है? उन से निवेदन है कि वे आचार्य रामसेन के निम्नलिखित श्लोक पर भी ध्यान देने का कष्ट करे, जिस मे लिखा है कि मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीनो सक्षेप से बन्ध के कारण है। अन्य सब इन तीनो का ही विस्तार है। उनके ही शब्दो मे–

स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः।

बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तर॰॥ तत्त्वानुशासन, श्लोक ८

इसकी व्याख्या करते हुए कहते है– "इसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि समयसार, तत्त्वार्थसूत्रादि ग्रन्थो मे बन्धहेतु विषयक जो कथन कुछ भिन्न तथा विस्तृत रूप मे पाया जाता है, वह सब इन्हीं तीनो हेतुओ के अन्तर्गत इन मे समाविष्ट अथवा इन्हीं मूल हेतुओ के विस्तार को लिए हुए है। जैसे "समयसार" मे एक स्थान पर मिथ्यात्व, अविरमण (अविरत), कषाय और योग इन चार को बन्ध का कारण बतलाया है। दूसरे स्थान पर इन चारो का उल्लेख करते हुए इन मे से प्रत्येक के सज्ञी–असज्ञी (चेतन–अचेतन) ऐसे दो–दो भेद करते हुए 'बहुविहभेया'

पद के द्वारा बहुत भेदो की भी सूचना की है। तीसरे स्थान पर राग, द्वेष तथा मोह का आस्रव रूप बन्ध का कारण निर्दिष्ट किया है और चौथे स्थान पर मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरतभाव और योग रूप अध्यवसानो को बन्ध का कारण ठहराया है। "तत्त्वार्थसूत्र" मे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचों को बन्ध का हेतु लिखा है। गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) मे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नाम के वे ही चार बन्ध के कारण दिए है, जिन का उल्लेख समयसार की १०६ वीं गाथा मे पाया जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि "समयसार" मे जिन्हे 'बन्धकर्तार' लिखा है, उन्हीं को "गोम्मटसार" मे आस्रवरूप निर्दिष्ट किया है। यह कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। क्योकि चारो प्रत्ययो मे बन्धत्व और आस्रवत्व की दोनो शक्तियाँ उसी प्रकार विद्यमान है, जिस प्रकार अग्नि मे दाहकत्व और पाचकत्व की दोनो शक्तियाँ पाई जाती हैं। मिथ्यात्वादि प्रत्यय प्रथम मे ही आस्रव के हेतु होते हैं। द्वितीय समय मे उन्हीं से बन्ध होता है और फिर आस्रव–बन्ध की परम्परा कथचित् चलती रहती है, जैसा कि "अध्यात्मकमलमार्तण्ड" के निम्न वाक्यो से स्पष्ट है–

"चत्वार प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावास्रवो भावबन्धश्चैकत्वाद्वस्तुतस्तो बत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयात्स्यात्। एकस्यापीह वन्हेर्दहन– पचन– भावात्म–शक्तिद्वयाद्वै वन्हि स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धे ।। मिथ्यात्वाद्यात्मभावा प्रथमसमये एवास्रवे हेतव स्यु पश्चात्तत्कर्मबन्ध प्रतिसमसमये तौ भवेत्ता कथचित्। नव्याना कर्मणागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रव स्याद् आयत्या स्यात्स बन्ध स्थितिमिति सिद्धालयपर्यन्तमेषोऽनयोर्मित्।। *परिच्छेद४*

"दृष्टिमोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते" यहाँ 'दृष्टिमोहोदयात्' पद अपनी खास विशेषता रखता है और इस बात को सूचित करता है कि यदि दर्शनमोहनीय कर्म का उदय न हो, तो अन्यथावस्थित पदार्थों मे अन्यथा रुचि, प्रतीति के होने पर भी मिथ्यादर्शन नहीं होता। जैसे कि श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से उस के मोहनीय कर्म का उदय नहीं बनता, फिर भी अपने पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के भाव को उस ने अन्यथा रूप मे समझ कर अन्यथा प्रवृत्ति कर डाली।

इतने मात्र से वह मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यादर्शन को प्राप्त नहीं कहा जा सकता, क्योकि दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन का कभी अभाव नहीं होता।" (*तत्त्वानुशासन, पृ० १७–१८*)

वस्तुत मिथ्यात्व भावात्मक है और बन्धक भी है। जिनागम में यह स्पष्ट उल्लेख है कि भावप्रत्यय के बिना द्रव्यप्रत्यय नहीं होते। राग, द्वेष, मोह (मिथ्यात्व) भावप्रत्यय हैं। जिस जीव के भावप्रत्यय नहीं हो, तो एकक्षेत्रावगाह रूप से अवस्थित होने पर भी उस के द्रव्यप्रत्यय आस्रव मे कारण नहीं होते। सिद्ध परमात्मा के राग, द्वेष, मोह नहीं हैं, इसलिये उनके द्रव्यप्रत्यय भी नहीं हैं।

जिनागम में मिथ्यात्वप्रत्ययक बन्ध उन प्रकृतियो को कहते हैं, जिनके बन्ध मे मिथ्यात्व नियम से कारण है। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं– सोलह कर्म मिथ्यात्वनिमित्तक हैं, क्योकि मिथ्यात्व के उदय के बिना इन के बन्ध का अभाव है। पच्चीस कर्म अनतानुबन्धिनिमित्तक हैं, क्योकि अनतानुबधी कषाय के उदय के बिना उनका बन्ध नहीं पाया जाता। दश कर्म असयम निमित्तक है, क्योकि अप्रत्याख्यानावरण के उदय के बिना उन का बन्ध नहीं होता। (षट्खण्डागम, बधसामित्तविचअ, पु० ८, पृ० ३८)। वे यह भी कहते हैं कि मिथ्यात्व का स्वोदय से ही बन्ध होता है। चार मूल प्रत्ययो से नाना समय सम्बन्धी पचपन उत्तर प्रत्ययों से तथा दश व अठारह एक समय सम्बन्धी जघन्य एव उत्कृष्ट प्रत्ययो से मिथ्यादृष्टि इन प्रकृतियो को बॉधता है। (वही, शास्त्राकार, पृ० २२) यही नहीं, मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध और उदय दोनो साथ व्युच्छिन्न होते हैं, क्योकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्तिम समय मे इस के बन्ध और उदय का व्युच्छेद देखा जाता है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे मूल प्रश्न यह है कि विसयोजना करने वाला जीव जब मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है, तब एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी चारो मे से किसी एक का भी उदय नहीं होता। ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त अनन्तानुबन्धी के ही उदय मे बँधने वाली पच्चीस प्रकृतियॉ उस काल मे बॅधेगी या नहीं? यदि यह कहा जाए कि बन्ध तो प्रत्येक समय होता है, तो यह प्रश्न है कि उन मे स्थिति और अनुभाग बन्ध किस कषाय के आधार पर होगा?

उत्तर यह है कि विसयोजना करने वाले जीव के मिथ्यात्व गुणस्थान में आते ही प्रथम समय मे अनन्तानुबन्धी का बन्ध प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य है कि कर्मबन्ध नई कार्मण वर्गणाओ का होता है, जिसे अकर्मबन्ध कहते हैं और संक्रम बधें हुए कर्म का होता है, उसे ही कर्मबन्ध कहते हैं। आगम मे प्रथम गुणस्थान में बाईस प्रकृतियों का समूह रूप एक ही बन्धस्थान कहा गया है। अत विसंयोजक के मिथ्यात्व गुणस्थान मे आने पर एक आवलि काल तक उस के अनन्तानुबन्धी का किसी भी रूप मे उदय नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्रथम तो उदयावलि मे निषेक–रचना नहीं है, दूसरे बन्ध के आबाधा के ऊपर निषेक–रचना मे बन्ध के कर्म–परमाणुओ का निक्षेप नहीं होता है। आबाधा के ऊपर ही निषेक–रचना में संक्रमित कर्म–परमाणुओ का निक्षेप होता है, इसलिये एक आवलि काल पश्चात् उस का उदय होता है।[१६४]

यदि अनन्तानुबन्धी को पच्चीस–कर्म–प्रकृतियो का प्रत्यय माना जाए तथा मिथ्यात्व को सोलह कर्म–प्रकृति का ही प्रत्यय माना जाए, तो यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा कि प्रथम गुणस्थान मे सोलह प्रकृतियो मे स्थिति–अनुभाग कौन डालेगा? क्योकि मिथ्यात्व को तो अकिंचित्कर कहा जा रहा है। यदि यह कहा जाए कि अनन्तानुबन्धी मात्र पच्चीस कर्म–प्रकृतियो के बन्ध का ही प्रत्यय नही है, वरन् अन्य प्रकृतियों मे बन्ध का प्रत्यय लागू पडता है, तो फिर जो यह पहले कह कर आए हैं कि अनन्तानुबन्धी मात्र पच्चीस प्रकृतियों की ही प्रत्यय है, यह नियम नहीं रहता। यदि यह कहा जाय कि नहीं, अनंतानुबधी तो पच्चीस प्रकृतियों की प्रत्यय है, तो फिर प्रथम गुणस्थान की सोलह कर्म–प्रकृतियो मे स्थिति–अनुभाग बन्ध का मूल कारण तथा विशेष कारण भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। अत यह मिथ्यात्व सोलह कर्म–प्रत्ययों का प्रधान प्रत्यय है। अनतानुबधी पच्चीस की प्रधान प्रत्यय है। दोनो के एक साथ रहने में तथा अपना–अपना काम करने मे कोई बाधा नहीं है।

सामान्यत प्रकृतियो की अपेक्षा यह सुनिश्चत है कि मिथ्यात्वादि

---

१६४ पचसग्रह, गा० ३०५

सोलह प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व से ही होता है, क्योकि उस मे उत्पादानुच्छेद की अपेक्षा जिन प्रकृतियो की बन्ध–व्युच्छित्ति होती है, वे प्रकृतियाँ सोलह हैं। उन मे से एक मिथ्यात्व ध्रुवबन्धिनी प्रकृति है, जिस स्थान में केवल एक ही प्रकृति का बन्ध होता है, अन्य प्रतिपक्षी का बन्ध नहीं होता। *(द्रष्टव्य है, धवला पु० ८, शास्त्राकार, पृ० १७, तथा जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग ३ पृ० ६३)*

उन सोलह प्रकृतियों का प्रदेशबन्ध की अपेक्षा विचार करने पर, उन का उत्कृष्ट आदि के भेद से किसी भी प्रकार का प्रदेशबन्ध क्यो न हो, किन्तु मिथ्यात्व न हो, तो केवल योग के निमित्त से उक्त सोलह प्रकृतियो का किसी भी प्रकार का प्रदेशबन्ध नहीं हो सकता।

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की अपेक्षा विचार करने पर जिन सोलह प्रकृतियो का केवल मिथ्यात्वगुणस्थान मे बन्ध होता है, उन का उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य किसी भी प्रकार का स्थितिबन्ध या अनुभागबन्ध क्यो न हो, उसका अविनाभाव सम्बन्ध जैसा मिथ्यात्व भाव के साथ पाया जाता है, वैसा अविरति आदि अन्य परिणामो के साथ नहीं पाया जाता है। कारण यह है कि "महाबन्ध" मे जहाँ सोलह प्रकृतियो के उत्कृष्ट आदि स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के स्वामी का विचार किया गया है, वहाँ उसका मिथ्यादृष्टि होना अवश्यम्भावी कहा गया है। यद्यपि उस के सक्लेश आदि रूप परिणामो मे भेद हो सकता है, किन्तु उसे मिथ्यादृष्टि तो होना ही चाहिए। अनुभाग बन्ध की अपेक्षा विचार करते हुए "महाबन्ध" में कहा गया है–

> ***मिच्छ० - णवुस० - णिरयाउ० - णिरयगइ - चदुजादि - हुंड० असप० - णिरयायु० - आदाव - थावरादि० ४ मिच्छत्तपच्चयं।***
>
> *(महाबन्ध, पु० ४, पृ० १८६)*

अभिप्राय यही है कि मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियो का बन्ध मिथ्यात्व निमित्तक ही होता है। इन प्रमाणो से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्व बन्ध का प्रमुख प्रत्यय है। अत यह कह कर वह उपेक्षा करने योग्य नहीं है कि मिथ्यात्व आस्रव–प्रत्यय है। प्रथम समय मे यदि वह आस्रवप्रत्यय है, तो दूसरे समय मे बन्धप्रत्यय है। आस्रव और बन्ध मे यही अन्तर कहा गया है कि प्रथम क्षण मे कर्मस्कन्धों का जो

आगमन है, वह आस्रव है और आने के पश्चात् द्वितीयादि क्षणों मे जीव के प्रदेशो मे उन स्कन्धो का रहना, वह बन्ध है। (बृहद्द्रव्यसग्रह, गा ३३ टीका) वास्तव मे शुद्धात्मतत्त्व के आश्रय के विपरीत जो भी परिणाम हैं, वे पुद्गल कर्मों के आस्रव के निमित्त हैं तथा अखण्ड निज चैतन्य स्वभाव के अनुभव के विपरीत मिथ्यात्व, राग और द्वेष भावबन्ध कहलाते हैं। अत. मिथ्यात्व को यदि बन्ध का प्रत्यय न माना जाए, तो यह आगम को बराबर न समझने से मूल मे भूल होगी।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की जीवतत्त्वप्रदीपिका वृत्ति मे कहा गया है कि बयासी अप्रशस्त प्रकृतियों और आतप, उद्योत, मनुष्यायु, तिर्यंचायु इन कुल ८६ कर्म-प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग सहित बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है। उन मे से जिन सोलह प्रकृतियो की व्युच्छित्ति मिथ्यादृष्टि के कही गई है, उनमे से सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण आदि, अन्त की नौ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बन्ध सक्लेश परिणाम युक्त मनुष्य और तिर्यंच करते हैं। और मनुष्यायु, तिर्यंचायु का तीव्र अनुभाग बन्ध विशुद्ध परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह मास अवशिष्ट रहने पर तीव्र अनुभाग बन्ध करता है। (गो० कर्मकाण्ड, गा० १६८ की टीका)

अत केवल एक नय स्थूल ऋजुसूत्रनय की विवक्षा को मुख्य कर अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का मुख्य कारण मात्र योग को तथा स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध का कारण मात्र कषाय को मान लेने पर भी समाधान नहीं होता, बल्कि कई प्रश्न तथा समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है, जिन पर स्वतन्त्र रूप से आगम के आलोक मे पूर्वापर विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। जीव के साथ द्रव्य का परिवर्तन किस प्रकार होता है, यह बताते हुए कहा गया है – मिथ्यात्व कषाय के वश से, ज्ञानावरणादि कर्मों का समयप्रबद्ध – अभव्यराशि से अनन्तगुणा सिद्धराशि के अनन्तवें भाग पुद्गल परमाणुओ का स्कन्धरूप कार्मणवर्गणा को समय-समय ग्रहण करता है। जो पहले ग्रहण किए थे, वे सत्ता में हैं, उन मे से इतने ही प्रति समय नष्ट होते हैं। वैसे ही औदारिकादि शरीरो का समयप्रबद्ध, शरीरग्रहण के समय से लगा कर आयु की स्थिति पर्यन्त ग्रहण होता है व छोडना होता है। इस तरह अनादि काल से ले कर अनन्त बार ग्रहण करना और छोड़ना

होता है। वहाँ एक परिवर्तन के प्रारम्भ में प्रथम समय के समयप्रबद्ध में जितने–जितने पुद्गल परमाणु, जैसे स्निग्ध–रूक्ष, वर्ण, गन्ध, रूप, रस, तीव्र–मन्द–मध्यम भाव से ग्रहण किए गए हों, उतने ही वैसे ही कोई समय में फिर से ग्रहण करने में आवें, तब एक कर्म–परावर्तन तथा नोकर्मपरावर्तन होता है। मध्य मे अनन्त बार और भाति–भाति के परमाणु ग्रहण होते हैं, वे नहीं गिने जाते हैं। वैसे के वैसे फिर से ग्रहण करने को अनन्त काल बीत जाये, तो उस को एक द्रव्यपरावर्तन कहते हैं। इस तरह के इस जीव ने इस लोक मे अनन्त परावर्तन किए हैं[१६५]।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बन्ध–प्रत्ययो के कारणों मे मिथ्यात्व प्रमुख है। मिथ्यात्व के अनुबन्ध से ही अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व का घात करने वाली कही जाती है। अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यात्व अनन्त है। उस मिथ्यात्व की जो चिरसगिनी (अनुबन्धिनी) है, वह अनन्तानुबन्धी है। मिथ्यात्व की भाति अनन्तानुबन्धी का भी वासना–काल सख्यात–असख्यात और अनन्तभव है[१६६]। स्वभावत प्रत्येक जीव मे केवलज्ञान शक्ति रूप से निहित है। जितना ज्ञान एक समय की पर्याय मे लब्धि रूप से प्राप्त है, वह तो क्षायोपशमिक है और जितने ज्ञान का पर्याय मे उघाड नहीं है, वह अज्ञानभाव है जो दु ख रूप अवश्य है।[१६७] आगम मे मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद ये बारह भाव सक्लेश रूप कहे गए हैं। ये ही भाव ज्ञानावरणादि आठ कर्मो को बाधते हैं।

केवल मिथ्यात्व भाव से बधने वाली प्रकृतिया निम्नलिखित हैं–

मिथ्यात्व, हुडकसस्थान, नपुसकवेद, असृपाटिकसहनन, एकेन्द्रिय,

---

१६५ कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा० ६७ की प० जयचन्द छाबडा की टीका तथा–नयचक्र, गा. १५४

१६६ अतोमुहुत्त पक्ख छम्मास सखासखणतभव।
सजलणमादियाण वासणकालो दु णियमेण।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४६

१६७ अर्थादौदयिकत्वे पि भावस्यास्याप्यवश्यत।
ज्ञानावृत्यादिबन्धेऽस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता–पचाध्यायी, उत्तरार्द्ध १८६६–७०

स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्ति, द्विरिन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, साधारण, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, नरकआयु ये १६ प्रकृतिया मिथ्यात्वभाव से ही बंधती हैं। अत· मिथ्यात्व बन्ध का कारण है। यदि मिथ्यात्व बन्ध कारण न होता, तो मिथ्यात्व भाव से मिथ्यादृष्टि के इन सोलह प्रकृतियो का बन्ध नहीं होना चाहिए था। परन्तु इन्हीं सोलह प्रकृतियों की बन्ध–व्युच्छित्ति मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त में होती है[१९८]। सम्यक्त्व हुए बिना इनका बन्ध निरन्तर होता रहता है। क्योंकि ये मिथ्यात्व प्रत्यय से बधने वाली प्रकृतिया हैं। इतना ही नहीं, ११६ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि जीव ही करता है।[१९९] जहा उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम बन्धक की गति आदि मे तथा स्थितिबन्ध में कारण हैं, वहीं बन्धक की गति आदि भी स्थितिबन्ध मे कारण है। गति तो परिणामो के अनुसार बधती है। जिन परिणामो से स्थितिबन्ध होता है, उन परिणामो को स्थितिबन्ध्याध्यवसाय कहते हैं। इसलिये बन्ध मे सारा श्रेय चारित्र मोह रूप कषाय को यदि दिया जाता है, तो यह कथन करणानुयोग व आगम के विपरीत है। कुछ लोग यह तर्क देते है कि आगम मे कहा गया है – ये स्थिति और अनुभागबन्ध होते है। इस मे योग और कषाय का नाम आया है, मिथ्यात्व कहा है? किन्तु आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती यह कहते हैं – उन प्रकृति–विकल्पो से स्थितिबन्ध के भेद असख्यात गुने हैं और स्थितिबन्ध के भेदो से असख्यात गुने स्थितिबन्ध्याध्यवसाय स्थान होते हैं[२००]। स्थिति बन्ध्याध्यवसायस्थान कषायस्थान नहीं है[२०१]।

---

१९८ मिच्छत्तहुडसढा सपत्तेयक्खथावरादाव।
सुहुमतिय वियलिदिय णिरयदुणिरयाउग मिच्छे।। गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गा० ६५
१९९ सव्वुवकस्सठिदीण मिच्छादिट्ठी दु बधगो भणिदो।
आहार तित्थयर देवाउ वा विमोत्तूण।। वही, गा० १३५
२०० तेहिं असखेज्जगुणा ठिदि अवसेसा हवति पयडीण।
ठिदिबधज्झवसाणट्ठाणा तत्तो असंखगुणा। वही, गा० २५६
२०१ धवला, पुस्तक ११, पृ० ३१०

भगवत्गुणभद्राचार्य विरचित "कसायपाहुड" (पु १२, गा १०१) मे कहा गया है–

मिच्छत्तपच्चयो खलु बधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसंते आसाणे तेण परं होइ भजियव्वो।।१०१।।

अर्थात्– दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के नियम से मिथ्यात्व के निमित्त से बन्ध जानना चाहिए। किन्तु उसके उपशान्त रहते हुए मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध नहीं होता तथा उपशान्त अवस्था के समाप्त होने के पश्चात् मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध भजनीय है।

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं–

"मिच्छत्तस्स सोदयेण बधो, धुवोदयत्तादो।"

'षट्खण्डागम' मे यह कथन लगभग एक सौ स्थलो पर आया है कि "मिच्छत्तस्स सोदएणेव बधो" मिथ्यात्व का अपने उदय मे ही बन्ध होता है।

मिथ्यात्व सर्वघाती कर्मप्रकृति है– "मिच्छ च सव्वघादी" (कर्मप्रकृति, गा १०६)। ऐसी सर्वघाती कर्मप्रकृति के लिए आज के विद्वानो का यह कहना कि वह कर्मबन्ध मे अकिचित्कर है–किसी अभिप्राय विशेष की ओर सकेत करता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने तथा भगवन्त पुष्पदन्त–भूतबली ने यह स्पष्ट उद्घोष किया है कि यदि मिथ्यात्व न हो, तो १६ कर्म–प्रकृतियो का बन्ध नहीं हो सकता। फिर, मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता, भले ही कषाय का कैसा भी उदय हो? (धवला पु ६, शास्त्राकार, पृ ४५)। जिनागम यह कहता है कि पचेन्द्रिय सज्ञी मिथ्यादृष्टि पर्याप्तक जीवो के मोहनीय कर्म की सात हजार वर्ष प्रमाण आबाधा को छोड कर जो प्रदेशाग्र प्रथम समय में निषिक्त है वह उससे विशेष हीन है। इस प्रकार उत्कर्ष से सत्तर कोडाकोडी सागरोपम तक विशेष हीन, विशेष हीन होता गया है। *(षट्खण्डागम पु ११, पृ २४२)*

इस प्रकरण मे यह प्रश्न किया गया है कि देशघाती प्रकृतियो का प्रदेशपिण्ड अनन्तगुणा हीन है– ऐसा 'कसायपाहुड' मे कहा गया है। परन्तु अनन्त गुणी हीनता का कथन उचित नहीं है, क्योकि सर्वत्र विशेषहीन देता है, इस सूत्र के साथ विरोध होता है। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योकि समस्त प्रकृतियो की स्थितियो का आश्रय

करके पृथक्–पृथक् निषेको की प्ररूपणा का प्रसग आता है।

उक्त शका का परिहार करते हुए कहते है– दूसरे पक्ष मे दिए गए दोषो की सभावना तो है ही नही, क्योकि वैसा स्वीकार ही नहीं किया गया है। प्रथम पक्ष मे कहे मिथ्यात्व प्रकृति के प्रदेशपिण्ड को ग्रहण करके अनन्तरोपनिधा की प्ररूपणा करने पर उक्त दोषों का आना सभव नहीं है। सामान्य मे विशेष न हो, ऐसा तो कुछ है नहीं, क्योकि विशेषो से सम्बद्ध ही सामान्य पाए जाते है। सामान्य की मुख्यता होने पर विशेष की विवक्षा विरूद्ध हो सो भी नहीं है, क्योकि विशेषो से भिन्न सामान्य का अभाव है। *(षट्खण्डागम, पु ११ ४, २, ६, १३, पृ २४४)*

अब प्रश्न यह है कि कर्मबन्ध की प्रक्रिया में बन्ध ही मुख्य है और वह भी विशेष रूप से यदि योग और कषाय से घटित होता है, क्योकि स्थितिबन्ध मे मिथ्यात्व का कार्य नहीं दिखाई देता है, तो फिर आचार्य वीरसेन स्वामी स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान और कषायोदयस्थान मे भिन्नता–भेद बतला कर यह क्यो कहते है कि सब मूल प्रकृतियों की अपनी–अपनी स्थिति के बन्ध मे कारण होने से स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान सज्ञा है। *(धवला, पु० ११, पृ० ३१०)*

इसमे कोई सन्देह नहीं है कि कर्मबन्ध–पर्याय के चार विशेष हैं प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध। इस मे स्थिति–अनुभाग ही अत्यन्त मुख्य विशेष है। इन के अतिरिक्त प्रकृति, प्रदेश तो अत्यत गौण विशेष है। क्योकि उन से कर्मबन्ध की पर्याय नाम मात्र ही रहती है। इसलिये 'पचास्तिकाय' (गा १४८) मे 'ग्रहण' (गहण) शब्द से स्थिति–अनुभागबन्ध का कथन किया गया है। वस्तुत द्रव्यमिथ्यात्वादि चार प्रकार के हेतु आठ प्रकार के कर्मो के कारण कहे गए है। मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग के भी बन्ध हेतुपने के हेतु जीवगत रागादि भाव है। जीवगत रागादि रूप भावप्रत्ययों का अभाव होने से द्रव्यप्रत्ययों के विद्यमान होने पर भी जीव बँधते नहीं हैं। यदि जीवगत रागादि भावो के अभाव में भी द्रव्यप्रत्ययो के उदय मात्र से बन्ध हो, तो सर्वदा बन्ध ही रहेगा, क्योंकि ससारी जीवो के सदैव कर्मों का उदय विद्यमान रहता है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत "समयसार" गाथा १७५ का विशेषार्थ लिखते हुए आ० ज्ञानसागर महाराज कहते हैं कि "राग, द्वेष, मोह, इन

तीनो मे से किसी से भी युक्त जीव का भाव बन्ध का कारण होता है। किन्तु उपर्युक्त तीनो विभावो से रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञानमय भाव कभी बन्ध करने वाला नहीं होता। हॉ, राग भाव से जो बन्ध होता है, वह मन्द होता है, द्वेष भाव से तीव्र बन्ध होता है, किन्तु मोह भाव (मिथ्यात्व) से अत्यन्त तीव्र बन्ध होता है, परन्तु निर्बन्ध दशा तो इन तीनो से रहित शुद्ध भाव होने पर ही होती है।"

ध्रुवबन्धी प्रकृतियो का मिथ्यात्व गुणस्थान मे निरन्तर बन्ध होता है। अतएव उनके अजघन्य स्थितिबन्ध का उत्कृष्ट काल एक सागर कहा है। *(महाबन्ध पु २, पृ ३४६)*

यदि मिथ्यात्व स्थितिबन्ध का कारण न हो और मात्र अनन्तानुबन्धी आदि कषाय स्थितिबन्ध की कारण हों, तो उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी दूसरे गुणस्थान को भी कहना चाहिए था, क्योकि अनन्तानुबन्धी का उदय दूसरे गुणस्थान मे भी है। फिर, दूसरे आदि गुणस्थानो मे बॅधने वाली प्रकृतियॉ भी इसमे सम्मिलित है, तब भी अन्य गुणस्थान को स्वामी न कह कर मिथ्यादृष्टि को ही स्वामी कहा है।

जिनागम के अध्ययन से यह भलीभॉति स्पष्ट व निश्चित हो जाता है कि कषाय की अपेक्षा मिथ्यात्व की शक्ति अनतगुणी अधिक है। यही कारण है कि जिस समय अनन्तानुबन्धी का उदय है, उस समय भी मिथ्यादृष्टि के बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व ही माना गया है। इसी अभिप्राय को ध्यान मे रख कर कसायपाहुड पु १२, पृ ३११ तथा धवला पु ६, पृ २४० पर दर्शनमोहनीय उपशामक के अनिवृत्ति के अन्तिम समय तक नियम से मिथ्यात्त्व निमित्तिक बध कहा गया है। यही नहीं, महाबध पु ४ पृ १८५ पर यह भी कथन है कि प्रत्ययप्ररूपणा की अपेक्षा से जो ६५ प्रकृतिया कही गई हैं, उन मे से प्रत्येक प्रकृति का बन्ध मिथ्यात्व, असयम, कषाय प्रत्ययपरक होता है।

यह तो सर्वविदित है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे व्युच्छिन्न हुई सोलह प्रकृतियो के बन्ध का प्रत्यय मिथ्यात्व का उदय ही है, क्योकि उसके बिना उन सोलह प्रकृतियो का बन्ध नहीं पाया जाता। कहा भी है—

"सोलसकम्माणि मिच्छत्तपच्चयाणि मिच्छत्तोदएण विणा एदेसि बधाभावादो। पणवीसकम्माणि अणंताणुबधिपच्चयाणि, तदुदएण विणा

तेसि बधाणुवलंभादो।" *(धवला, पु. ८, पृ. ७६)* वास्तव में मिथ्यात्व के उदय मे अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्व का अनुसरण करती है। इसलिये यदि मिथ्यात्व तीव्र है, तो अनन्तानुबन्धी का उदय भी तीव्र होगा और मिथ्यात्व मद है, तो अनतानुबधी का उदय भी मन्द होगा। *(आचार्य जयसेन, पचास्तिकाय–तात्पर्यवृत्ति, गा १२८–१३०)*

इस प्रकार कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे मिथ्यात्व की भूमिका प्रमुख है। यदि मिथ्यात्व कुछ नहीं करे, तो कर्मबन्ध की सम्पूर्ण सृष्टि ढह जाएगी। अनादिकाल से लेकर अनन्त काल तक अभव्य जीव किस के बल पर अनन्त ससार मे परिभ्रमण करता है? वस्तुत मिथ्यात्व ही उसे अनन्त ससार मे टिकाए रखने मे समर्थ है। जब मिथ्यात्व का ऐसा माहात्म्य है कि उसके बिना अनन्त ससार नहीं होता, तब **ऐसा कहना कि "मिथ्यात्व अकिंचित्कर है"- यह जिनागम का अपलाप नहीं तो क्या है?**

मिथ्यात्व गुणस्थान से ले कर अप्रमत्त गुणस्थान तक के जीव आठो ही कर्मों का बन्ध करते हैं। कर्म की प्रकृतियो के चार प्रकार कहे गए है। जीवविपाकी प्रथम है। जिन कर्मप्रकृति का फल जीव मे होता है अर्थात् जिन कर्मप्रकृति का उदय जीव की विविध अवस्थाओ और परिणामो के होने में निमित्त है, वे जीवविपाकी कर्मप्रकृतियॉ हैं। जिन कर्मप्रकृतियो का उदय शरीर, वचन और मन रूप वर्गणाओ के सम्बन्ध से शरीरादिक रूप कार्यों के होने मे निमित्त हैं, वे पुद्‌गलविपाकी कर्मप्रकृतियॉ हैं।

(१) जीवविपाकी कर्मप्रकृतियॉ ७८ हैं– ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ६, मोहनीय २८, अन्तराय ५, वेदनीय २, गति ४, जाति ५, उच्छ्‌वास, विहायोगति २, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दु स्वर, आदेय, अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, तीर्थकर, गोत्र २।

(२) पुद्‌गलविपाकी कर्मप्रकृतियॉं ६२ हैं– शरीर ५, अगोपाग ३, बन्धन ५, संघात ५, सस्थान ६, संहनन ६, वर्ण ५, रस ५, गन्ध २, स्पर्श ८, निर्माण, आतप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात, परघात।

(३) जिन कर्मप्रकृतियों के फल मे नरकादि पर्याएँ होती हैं, वे भवविपाकी कर्मप्रकृतियॉ हैं। उनकी सख्या चार है– नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

(४) जिन कर्मप्रकृतियो के फल मे विग्रह गति (परलोक गमन के मार्ग मे) हो, वे क्षेत्रविपाकी कर्मप्रकृतियॉ हैं। उनकी भी सख्या चार है– नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

जिस कर्म का जो स्वभाव है, वही उसकी प्रकृति है। कर्म का निजी स्वभाव किसी नियत समय तक बना रहना स्थितिबन्ध है। उन कर्मो मे फल देने की अपनी–अपनी शक्ति होना अनुभागबन्ध है। जो पुद्‌गलस्कन्ध कर्म रूप परिणमित हुए हैं, परमाणुओ के द्वारा उनकी सख्या का निर्धारण प्रदेशबन्ध है।

मोहनीय कर्म के बन्ध-स्थान-

मोहनीय कर्म के दश बन्धस्थान कहे गए है[२०२]– बाईसप्रकृति रूप, इक्कीस प्रकृति रूप, तेरह प्रकृति रूप, नौ प्रकृति रूप, पॉच प्रकृति रूप, चार–तीन–दो–एक प्रकृति रूप।

बाईस प्रकृति रूप बन्ध मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यात्व से ही होता है। क्योकि मिथ्यात्व गुणस्थान के आगे मिथ्यात्व का उदय नहीं होता और मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता। ये बाईस प्रकृतियॉ इस प्रकार हैं[२०३]। मिथ्यात्व, सोलह कषाय, तीन वेदो मे से एक वेद, हास्य–रति और शोक–अरति इन दो युगलो मे से एक युगल, भय और जुगुप्सा। दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व को छोड कर शेष इक्कीस प्रकृतियो का बन्ध होता है। यहॉ नपुसक वेद का भी बन्ध नहीं होता है। इसलिये दो वेदो मे से किसी एक वेद को ही लेना चाहिए। दूसरे गुणस्थान से ऊपर अनन्तानुबन्धी

---

२०२ पचसग्रह, गा० २४७, पृ० १८८

२०३ मिच्छम्मि य वाबीसा मिच्छा सोलस कसाय वेओ य।
हस्साइजुयलेक्कणिदा भएण विदिए दु मिच्छ–सदूणा।।–पचसग्रह, गा० २४८, पृ० १८८

क्रोध–मान–माया–लोभ और स्त्रीवेद का बन्ध नहीं होता। इस का कारण यह है कि ऊपर के गुणस्थानों मे अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। अत इक्कीस प्रकृति रूप दूसरे बन्धस्थान में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क और स्त्रीवेद को कम कर देने पर सत्रह प्रकृति रूप तीसरा बन्धस्थान होता है[204]। उस का बन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय का बन्ध नहीं होता। इस का कारण यही है कि वहाँ पर अप्रत्याख्यान कषाय के उदय का अभाव है। आगे सत्रह प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान–माया–लोभ को कम कर देने पर तेरह प्रकृति रूप बन्धस्थान होता है जो सयतासंयत के बँधता है। क्योंकि पंचम गुणस्थान से ऊपर प्रत्याख्यानावरणीय चार कषायो का बन्ध नहीं होता। तेरह प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध–मान–माया–लोभ को कम कर देने पर नौ प्रकृति रूप बन्धस्थान होता है। यह प्रमत्तसंयत से ले कर अपूर्वकरण गुणस्थान तक बँधता है, क्योंकि आगे छह नोकषायों का बन्ध नहीं होता।

उक्त नौ प्रकृतियो मे से चार सज्वलनकषाय और एक पुरुषवेद रूप इन पॉच प्रकृतियों का बन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थाम में होता है। इन मे से पुरुषवेद कम कर देने पर चार प्रकृति रूप बन्धस्थान होता है। फिर, सज्वलन क्रोध को कम कर देने पर तीन प्रकृति रूप तथा मान को कम कर देने पर दो प्रकृति रूप बन्धस्थान होते हैं[205]।

इन का बन्ध नवम गुणस्थान मे ही होता है। नवम गुणस्थान के दो भेद है, एक–एक प्रकृति का प्रकृतिबन्ध, अनुभागबन्ध, स्थितिबन्ध और प्रदेशबन्ध रूप चार प्रकार का बन्ध होता है। उन में से एक–एक बन्ध प्रकृतिबन्ध को छोड कर अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य के भेद से चार प्रकार का होता है।

---

२०४. वही, गा० २४६, पृ० १८६
२०५. वही, गा० २५०, पृ० १९०

कर्मप्रकृतियों के दश करण-

बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचित ये दश करण कर्मप्रकृतियों के होते हैं[२०६]।

(१) बन्ध-जीव का कर्मो के साथ जो सम्बन्ध है, वही बन्ध कहा जाता है। बन्ध मे द्वित्व नहीं, एकत्व (सश्लेष) है। कहा भी है[२०७]- द्वित्व का त्याग कर एकत्व की प्राप्ति का नाम बन्ध है। एकीभाव का नाम बन्ध है[२०८]। यह एकीभाव किन मे पाया जाता है? आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं[२०९]- जीव और कर्मो का मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगों से जो एकत्व परिणाम होता है, वह बन्ध है। यह सुनिश्चित है कि बिना एकत्व के बन्ध नहीं होता। जैविक, पौद्गलिक तथा जीव-पुद्गल का भावात्मक किवा द्रव्यात्मक बन्ध ही क्यो न हो, द्वित्व भाव में एकत्व होना ही बन्ध है। भौतिक जगत् मे दृश्यमान अधिकतर पदार्थ बद्ध रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। रासायनिक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि नमक दो तत्त्वो का सम्मिश्र रूप है जो सोडियम और क्लोरीन का यौगिक है। पानी, दूध, कोयला, भोजन, भोज्य पदार्थ आदि विभिन्न परमाणुओ के समूह तथा सम्बद्ध स्कन्ध रूप नहीं तो क्या हैं? जिन को भौतिक विज्ञान निष्क्रिय गैस कहता है, वे रासायनिक क्रियाओ की दृष्टि से भले ही निष्क्रिय हो, किन्तु भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे वे आज इतनी सक्रिय हैं कि उनका लेजर (लक्ष्य-भेद) मे विशेष रूप से उपयोग होता है। रसायन विज्ञान मे जिन को ठोस, द्रव तथा गैस कहा जाता है, वे

---

२०६. बधुक्कट्टणकरण, सकममोकट्टुदीरणा सत्त।
उदयुवसामणिधत्ती, णिकाचणा होदि पडिपयडी।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४३७

२०७ "बधो णाम दुभावपरिहारेण एयत्तावत्ती।" धवला पु० १३ (५, ३, ८) पृ० ७

२०८ तथा- वही, पृ० ३४८

२०९ "जीव-कम्माण मिच्छत्तासजमकसायजोगेहि एयत्तपरिणामो बधो।" धवला पु० ८ (३, १) शास्त्रकार, पृ० १

वस्तुत कई अणुओ के स्कन्ध किंवा समूह के नाम हैं। जिस प्रकार एक पाषाण या ईंट का कोई मकान नहीं होता, उसी प्रकार पानी का एक अणु न तो ठोस, न द्रव और न गैस कहलाता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सामान्यत पदार्थ मे तीन प्रकार के परिवर्तन देखे जाते हैं– भौतिक, रासायनिक और पारमाण्विक। अतः इनकी सरचना के आधार पर विविध बन्ध (पायबन्ध, धातुगतबन्ध, वैद्युत सयोजक बन्ध, इत्यादि) पाए जाते हैं। उन के अध्ययन से यही सिद्ध होता है कि यह भौतिक जगत् बन्धमय है। सम्पूर्ण विश्व बन्ध में ही रम रहा है, क्योकि वस्तुगत शुद्ध एकत्व स्वरूप का पता नहीं है। यही कारण है कि विज्ञान की सारी दौड आज तक सूक्ष्मतम कणो तक का पता नहीं लगा सकी है।

(२) उत्कर्षण– जीव के साथ कर्म–पुद्गलों के एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होने पर बन्ध के दूसरे समय से ले कर फल देने के प्रथम समय तक उन की सत्त्व या सत्ता सज्ञा है। बन्ध को प्राप्त कर्मप्रदेशो की स्थिति और अनुभाग को बढाना उत्कर्षण है[२१०]। इस से नीचे के निषेको के परमाणुओ को ऊपर के निषेको मे मिला लिया जाता है। वास्तव मे नवीन बन्ध के सम्बन्ध से पूर्व की स्थिति मे से कर्मपरमाणुओ की स्थिति का बढाना उत्कर्षण है[२११]। इससे यह भी सकेतित है कि सब परमाणुओ का उत्कर्षण नहीं होता, क्योकि उनकी एक समय मात्र भी शक्तिस्थिति नहीं पाई जाती। अत जो कर्म उदयावलि के भीतर स्थित हैं, वे उत्कर्षण से झीनी (अल्प) स्थिति वाले हैं[२१२]। उदयावलि के बाहर भी सत्ता मे स्थित

---

२१० "कम्मप्पदेसट्ठिदिवड्ढावणमुक्कड्डणा।" धवला पु० १० (४, २, ४, २१) पृ० ५२ तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४३८ जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२११ "उक्कड्डणा णाम कम्मपदेसाण पुव्विल्लट्ठिदीदो अहिणवबधसबंधेण ट्ठिदिवड्ढावण।" कसायपाहुड भा. ८ (बधगो ६) पृ० २५३

२१२ "ज ताव उदयावलियपविट्ठ त ताव उक्कड्डणादो झीणट्ठिदिय।"–कसायपाहुड भा० ७ (पदेससिहत्ति ५), पृ० २४२

जिन कर्मपरमाणुओ की कर्मस्थिति उत्कर्षण के समय बँधने वाले कर्मों की आबाधा के बराबर या इससे कम शेष रही है, उनका भी उत्कर्षण नहीं होता[२१३]। इसलिये यह नियम है कि संक्रमण में जो कर्मप्रकृति के परमाणु उत्कर्षण को प्राप्त होते हैं, वे स्वकाल मे एक अवलिकाल पर्यन्त तो अवस्थित ही रहते हैं[२१४]। इस प्रकार बन्ध के समय से ले कर यदि एक समय अधिक एक आवलि से न्यून शेष सब कर्मस्थिति व्यतीत हो गई है, तो उन कर्मपरमाणुओं का उत्कर्षण नहीं हो सकता, क्योकि उन की उस स्थिति से अधिक एक समय मात्र भी शक्तिस्थिति नहीं पाई जाती[२१५]। इससे अधिक व्याघात दशा में कम से कम आवलि के असंख्यातवे भागप्रमाण अतिस्थापना और इतना ही निक्षेप प्राप्त होने पर उत्कर्षण होता है, अन्यथा नहीं होता[२१६]।

(३) अपकर्षण– जो कर्म पहले बाँधा था, उन के प्रदेशो की स्थिति और अनुभाग को कम करने को अपकर्षण कहते हैं[२१७]। इस मे स्थिति को घटा कर ऊपर के निषेकों का द्रव्य नीचे के निषेको मे दिया जाता है और उसे ही अपकर्षण कहा जाता है[२१८]। पहले उदय मे आने योग्य द्रव्य को नीचे का और पीछे उदय में आने योग्य द्रव्य को ऊपर का कहा गया है। उदयावलि मे स्थित कर्मपरमाणुओ का अपकर्षण नहीं होता। केवल उदयावलि के बाहर स्थित कर्म परमाणुओ का ही अपकर्षण होता है।

(४) सक्रमण– पूर्व मे जो कर्मप्रकृति बँधी थी, उस का सजातीय अन्य प्रकृति रूप परिणमन होना सक्रमण है[२१९]। इसी को एक अवस्था से दूसरी

---

२१३ वही, पृ० २४४

२१४ क्षपणासार, गा० ११, पृ० २२

२१५ कसायपाहुड भा० ७ (पदेसविहत्ति ५), पृ० २४४

२१६ वही, पृ० २४५

२१७ "पदेसाण ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डणा णाम।" धवला पु० १० (४, २, ४, २१) पृ० ५३

२१८. लब्धिसार, गा ५५ की प टोडरमलजी कृत भाषा टीका

२१९ धवला पु० १६ (सतकम्म), पृ० ३४०

अवस्था रूप बदल जाना (सक्रान्त होना) कहा गया है। बन्ध के लक्षण में ही यह कहा गया है कि जो कर्म रूप से स्थित पुद्गलो का अन्य प्रकृति रूप से परिणमना है, वह कर्मबन्ध है। यदि पुद्गलस्कन्ध मिथ्यात्व, असयम आदि कार्य उत्पन्न करने मे निमित्त न हो, तो कर्म कैसे कहलायें?

कर्म का सक्रमण चार प्रकार का कहा गया है[220]। यथा–प्रकृतिसक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम। कर्म का अपनी कर्म रूप अवस्था का त्याग किए बिना अन्य स्वभाव रूप से सक्रमण करना कर्मसक्रम कहलाता है। यद्यपि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा वह एक प्रकार का है, तथापि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा उस के प्रकृतिसक्रम आदि चार प्रकार कहे गए हैं। उन मे से एक प्रकृति का दूसरी प्रकृतियों मे सक्रम होना प्रकृतिसक्रम है; जैसे क्रोध का मान आदि रूप हो जाना[221]। प्रकृतिसक्रम दो प्रकार का है[222]– एकैकप्रकृतिसक्रम और प्रकृतिस्थान सक्रम। यह एक नियम है कि मूल प्रकृतियो मे परस्पर सक्रमण नहीं होता[223]। यह भी सामान्य नियम है कि जिस प्रकृति का बन्ध होता है, उसी मे सक्रमण होता है। जिसका बन्ध नहीं हुआ है, उस मे सक्रमण भी नहीं होता[224]। इस कथन का अभिप्राय यह है कि दर्शनमोहनीय मे

---

२२० "कम्मसकमो चउव्विहो। त जहा–पयडिसंकमो ट्ठिदिसकमो अणुभागसकमो पदेससकमो चेदि।" कसायपाहुड भा० ८ (बंधगो ६), पृ० १४

२२१ "तस्स संकमो कम्मत्तापरिच्चाएण सहावतरसकती। सो पुण दव्वट्ठियणयावलंवणेणेगत्तमावण्णो पज्जवट्ठियणयावलबणेण चउप्पयारो होइ पयडिसंकमादिभेएण। तत्थ पयडीए पयडिअतरेसु सकमो पयडिसकमो त्ति भण्णइ, जहा कोहपयडीए माणादिसु सकमो त्ति।" –कसायपाहुड भा० ८ (बधगो ६), पृ० १४ से उदधृत

२२२ वही, पृ० १५

२२३ धवला पु० १६ (४०८), पृ० १०

२२४ बधे सकामिज्जदि, णो बंधे णत्थि मूलपयडीण।
दसणचरित्तमोहे, आउचउक्के ण सकमण।।
– गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४१०

सम्यग्मिथ्यात्व–सम्यक्त्व प्रकृति का बन्ध न होने पर भी मिथ्यात्व प्रकृति का द्रव्य सक्रमण कर जाता है। अत दर्शनमोहनीय के बिना शेष प्रकृतियो का बन्ध होने पर उन मे ही सक्रमण होता है[225]। इसी प्रकार मूल प्रकृतियो में तो परस्पर संक्रमण नहीं होता, किन्तु ज्ञानावरण कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियों में परस्पर सक्रमण पाया जाता है। इसी प्रकार सभी उत्तर प्रकृतियों मे जानना चाहिए, **किन्तु दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय में परस्पर किसी भी स्थिति में संक्रमण नहीं होता है।** इसी प्रकार चारो आयुकर्मों मे भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है[226]।

जिन कर्मप्रदेशो का सक्रमण अथवा उत्कर्षण होता है, वे आवलि मात्र काल तक जिस प्रकार जहॉ पर हैं, वैसे ही वहॉ पर अवस्थित रहते हैं। बन्ध रूप प्रदेशो का सक्रमण सूक्ष्म–साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त है। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय की इन तीनो प्रकृतियों का सक्रमण सासादन और मिश्र गुणस्थान मे नहीं होता। सामान्यत दर्शनमोहनीय का सक्रमण चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त होता है[227]। यह भी कहा गया है कि मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त अध. प्रवृत्तकरण सक्रमण होता है और उद्वेलन सक्रमण उपान्त्य काण्डक पर्यन्त नियम से होता है[228]। जो प्रकृति उस समय नहीं बँधती है और न ही उस को बाँधने की उस जीव मे योग्यता है, उन ही प्रकृतियो की उद्वेलना होती है, जो मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही होती है। वह काण्डक रूप होती है अर्थात् प्रथम अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा विशेष चयहीन क्रम से तथा द्वितीय अन्तर्मुहूर्त मे उस से दुगुने चयहीन क्रम से होती है। उपान्त्य काण्डक पर्यन्त ही होती है। यह प्रकृति के सर्वहीन निषेको के परिणमाने

---

२२५ वही, गा० ४१० की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२२६ वही, गा० ४१० की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका।

२२७ वही, गा० ४११ तथा टीका

२२८ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४१२

पर होती है[229]। मिथ्यात्व और मिश्र इन दो प्रकृतियों की उद्वेलना मिथ्यादृष्टि के ही होती है[230]।

संसारी जीव अपने जिन परिणामों से शुभ कर्म तथा अशुभ कर्म रूप संक्रमण करते हैं, उस के पाँच भेद कहे गए हैं[231]। उद्वेलन विध्यात, अध प्रवृत्त, गुण और सर्वसक्रमण। अनुभाग की अपेक्षा तात्कालिक बन्ध अल्प है, किन्तु बन्ध से उदय अनन्तगुना है जो सत्त्व के अनुभागरूप है। वास्तव में उदय से सक्रमण अनन्तगुना है[232]। यद्यपि अशुभ कर्मो के अनुभाग की प्रत्येक समय में अनन्त गुणी हानि होती जाती है, फिर भी वह प्रति समय प्रत्यग्र बन्ध से अनन्त गुनी होती है। प्रश्न यह है कि जब सभी संसारी जीवो के प्रत्येक समय में शुभ–अशुभ कर्मरूप सक्रमण हो रहा है, तब मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति का अध प्रवृत्त सक्रमण क्यो नहीं कहा[233]? इस का अर्थ यह नहीं है कि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व प्रकृति का सर्वथा संक्रमण ही नहीं होता। क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति मे विध्यात, गुण और सर्वसक्रमण पाए जाते हैं तथा सम्यक्त्व प्रकृति मे विध्यातसक्रमण के बिना चार सक्रमण पाए जाते हैं[234]।

जो स्थिति अपकर्षित, उत्कर्षित और अन्य प्रकृति रूप से संक्रमित होती है, वह स्थितिसक्रम है, जो दो प्रकार है[235]– मूल

---

२२६ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, प्रथम सस्करण, पृ० ८६ से उद्धृत

२३० कसायपाहुड भाग २, पृ० १२२

२३१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४०६

२३२ क्षपणासार, गा० ६२, लब्धिसार, गा० ४५३ तथा धवला पु० ६ (१, ६–८, १६), शास्त्राकार, पृ० १८१ एवं कसायपाहुड भा० १४, पृ० २६१

२३३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४११

२३४. वही, गा० ४१६–४२३, जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२३५. "जा ट्ठिदि ओकड्डिज्जदि वा उक्कड्डिज्जदि वा अण्णपयडि संकामिज्जइ वा सो ट्ठिदिसकमो।.... ट्ठिदिसंकमो दुविहो– मूलपयडिट्ठिदिसंकमो उत्तरपयडिट्ठिदिसंकमो च।" कसायपाहुड भा० ८ (बंधगो ६), पृ० २४२

प्रकृतिस्थितिसक्रम और उत्तरप्रकृतिस्थितिसक्रम। यहाँ पर मूल प्रकृति की स्थिति का अपकर्षण और उत्त्कर्षण के कारण सक्रमण होता है, किन्तु उत्तरप्रकृतिस्थति का अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृतिसक्रम के कारण सक्रमण होता है। इसी प्रकार अपकर्षित, उत्कर्षित तथा अन्य प्रकृति को प्राप्त हुआ अनुभाग भी सक्रम हैं[236]। जो प्रदेशाग्र जिस प्रकृति से अन्य प्रकृति को ले जाया जाता है, उस प्रकृति का वह ले जाया जाना प्रदेशसंक्रम है[237]। जिस प्रकार अपकर्षण–उत्कर्षण के द्वारा स्थिति और अनुभाग का अन्य रूप होना पाया जाता है, उस प्रकार उन के द्वारा प्रदेशाग्र का अन्य रूप होना नहीं पाया जाता है। ऐसा नियम है कि सर्वत्र बँधने वाली समानजातीय प्रकृतियो मे सक्रमण की प्रवृत्ति पाई जाती है[238]। आगम मे यह भी कहा गया है कि मोहनीय की मिथ्यात्व आदि प्रकृतियो का परस्पर में सक्रमण होना कर्मद्रव्यप्रकृतिसक्रमण है।[239] चूर्णिसूत्रो मे यह कहा गया है कि मिथ्यात्व के भुजाकार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य सक्रामक होते हैं[240]।

(५) सत्त्व– प्रश्न यह है कि एक ही कर्मद्रव्य बन्ध, सत्त्व और उदय रूप कैसे होता है? उत्तर यह है कि सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त विस्रसोपचय रूप से कार्मण वर्गणाओ मे से अनन्तानन्त परमाणुओ के समुदाय के समागम से उत्पन्न हुए कर्मस्कन्ध मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग के निमित्त

---

२३६ "अणुभागो ओकड्डिदो वि सकमो, उकड्डिदो वि सकमो, अण्णपयडि णीदो वि सकमो।" कसायपाहुड भा० ६, पृ० ३

२३७ "ज पदेसग्गमण्णपयडि णिज्जदे जत्तो पयडीदो तं पदेसग्ग णिज्जदि तिस्से पयडीए सो पदेससकमो।" वही, पृ० १६६

२३८ "सव्वत्थ समाणजाईयवज्झमाणपयडीसु संकमपउत्तीए विरोहाभावादो।" कसायपाहुड भा० ८ (बधगो ६), पृ० ३३

२३९ वही, पृ० १९

२४० "मिच्छत्तस्स भुजगार–अप्पदर–अवट्ठिद–अवत्तव्व–संकामया अत्थि।" कसायपाहुडसुत्त (चूर्णिसूत्र सहित), ५ संक्रम अर्थाधिकार, गा० ५८, पृ० ४२३

से एक साथ लोकप्रमाण जीव के प्रदेशों मे सम्बद्ध हो कर कर्म पर्याय रूप से परिणत होने के प्रथम समय मे बन्ध इस संज्ञा को प्राप्त होते है। जीव से सम्बद्ध हुए उन कर्मस्कन्धो की दूसरे समय से ले कर उदय को प्राप्त होने के पहले समय तक सत्त्व सज्ञा होती है[२४१] और जब वे फल देते हैं, तो उन की उदय सज्ञा होती है। अत एक ही कर्मद्रव्य बन्ध, सत्त्व और उदय रूप होता है। वस्तुत द्रव्य एक ही है। उस के नाम–भेद से द्रव्य मे कोई भेद नहीं होता[२४२]।

इस मे भी यह नियम है कि अभव्य राशि से अनन्त गुने तथा सिद्ध राशि के अनन्तवे भाग कर्म – परमाणु प्रत्येक समय मे बॅधते हैं। वहॉ प्रतिसमय एक समयप्रबद्ध मात्र परमाणु बॅधते हैं तथा एक समयप्रबद्ध मात्र की निर्जरा होती है। डेढ गुण–हानि से गुणित समयप्रबद्ध मात्र सदा काल सत्ता मे रहते हैं[२४३]।

बॅधे हुए कर्म का वेदन हो कर जब तक वह अकर्मभाव को प्राप्त नहीं होता, तब तक उस कर्म का सत्त्व रहता है। अत जिन कर्मों का सत्त्व है, उन का ही वेदन होता है। वह वेदन कर्म के उदय तथा उदीरणा के द्वारा होता है[२४४]। कर्मों के बॅधने के दूसरे समय से ले कर क्षपण होने के अन्तिम समय तक सत्कर्म या सत्त्व बना रहता है[२४५]। यथार्थ मे बन्ध की प्ररूपणा से सत्त्व, उदय और उदीरणा की भी प्ररूपणा सिद्ध हो जाती है।

(६) उदय–जीव से सम्बद्ध हुए कर्मस्कन्ध फल देने के समय मे 'उदय' इस सज्ञा को प्राप्त होते हैं[२४६]। कर्म स्वरूप से या पर रूप से फल दिए बिना अकर्म भाव को प्राप्त नहीं होते। अत अनुदय रूप कर्मप्रकृति एक

---

२४१ कसायपाहुड भा० १ (पेज्जदोसविहत्ति) शास्त्राकार, श्रीवीरशासनसंघ, कलकत्ता, पृ० १४६

२४२ वही, पृ १४६

२४३ मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ. ३०

२४४ कसायपाहुड भा० १०, पृ० २

२४५ धवला पु० ६ (१, ९–७, ४३), शास्त्राकार, पृ० १०१

२४६ कसायपाहुड भा० १, पृ० १४६

समय तक स्वरूप से रह कर दूसरे समय मे पर प्रकृति रूप से रह कर तीसरे समय में अकर्म भाव को प्राप्त होती है[२४७]। इस कारण यह कहा गया है कि बँधे हुए कर्म की स्थिति जब दो समय से अधिक बन्धावलि में बीत जाती है, तब निषेकस्थिति के क्षय से पतन करती हुई 'उदय' संज्ञा वाली होती है[२४८]। यह भी कहा गया है कि जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थितिक्षय को प्राप्त हो कर अपना फल देते हैं, उन कर्मस्कन्धों की 'उदय' सज्ञा है[२४९]। यहाँ पर 'फल' का अर्थ 'वेदन या अनुभवन' करना चाहिए। पचसग्रहकार तो कर्मों के अनुभवन को ही उदय कहते हैं[२५०]।

(७) उदीरणा– नहीं पके हुए कर्मों के पकाने का नाम उदीरणा है[२५१]। कर्म के फल भोगने के काम को उदय कहते हैं और अपक्व कर्मों के पाचन को उदीरणा कहते हैं[२५२]। उदयावलि से बाहर की स्थिति को ले कर आगे की स्थितियो के बन्धावलि अतिक्रान्त प्रदेशाग्र को असख्यात लोक प्रतिभाग से अथवा पल्योपम के असख्यातवे भाग रूप प्रतिभाग से अपकर्षण करके उदयावलि मे देना उदीरणा कहलाती है[२५३]। उदीरणा से तीव्र परिणाम उत्पन्न होते हैं। उदीरणा चार प्रकार की है[२५४]–

---

२४७ कसायपाहुड भा० ३, (द्विदिविहत्ति ३) पृ० २४५

२४८ "सो चेव दुसमयाधियबधावलियाए ट्विदिक्खएण उदए पदमाणो उदयसण्णिदो होदि त्ति।" धवला पु० ६ (१, ६–७, ४३), शास्त्राकार, पृ० १०१

२४९ धवला पु० ६ (१, ६–८, ४), शास्त्राकार, पृ० १०७

२५० "कर्मणामनुभवनमुदय.", पचसग्रह, ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रथम सस्करण, पृ० ६७६

२५१ धवला पु० १५ (सतकम्म), पृ० ४३

२५२ "भुजणकालो उदओ उदीरणापक्कपाचणफल वा।" पचसग्रह अ० ३, गा० ३

२५३ धवला पु० १५ (संतकम्म), पृ० ४३

२५४ धवला पु० १५ (सतकम्म), पृ० ४३

प्रकृतिउदीरणा, स्थितिउदीरणा, अनुभागउदीरणा और प्रदेशउदीरणा। उन मे प्रकृतिउदीरणा मूलप्रकृतिउदीरणा और उत्तरप्रकृतिउदीरणा के भेद से दो प्रकार की है। मिथ्यात्व की प्रथम गुणस्थान में ही उदीरणा होती है, अन्य गुणस्थान में नहीं होती[255]।

(८) उपशामना— जो कर्म उदय या उदयावलि मे नहीं दिया जा सकता है, वह उपशन्त कहा जाता है[256]। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से उपशामना चार प्रकार की है। द्रव्य उपशामना दो प्रकार की है— कर्मद्रव्योपशामना और नोकर्मद्रव्योपशामना। कर्मद्रव्योपशामना के भी दो भेद हैं[257]—करणोपशामना और अकरणोपशामना। भाव की अपेक्षा उपशामना दो प्रकार की है—प्रशस्त और अप्रशस्त। उपशमकरण सभी कर्मो मे होता है। अध करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण के द्वारा मोहनीयकर्म की जो उपशामना होती है, वह प्रशस्त उपशामना है। बन्ध के समय सभी कर्मो के कुछ प्रदेशों मे अप्रशस्त उपशामना होती है। अत कितने ही कर्म परमाणुओ की बहिरग—अन्तरग कारणवश उदीरणा के द्वारा उदय मे अनागमन रूप प्रतिज्ञा को अप्रशस्त उपशामना कहते हैं[258]। इस अप्रशस्त उपशामना के द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है, वह अपकर्षण, उत्कर्षण तथा सक्रमण के लिए तो समर्थ है, लेकिन उदयावलि मे प्रविष्ट कराने के लिए सक्षम नहीं है[259]।

(६) निधत्ति— जो कर्म—प्रदेशाग्र उदय मे देने के लिए तथा अन्य प्रकृति रूप परिणमाने के लिए समर्थ नहीं है, वह निधत्ति है[260]। इसका अर्थ यह है कि वह कर्म अपकर्षण तथा उत्कर्षण के लिए तो समर्थ है, लेकिन

---

२५५ प्राकृत पचसग्रह, पृ० ५२२

२५६ उदए सकम—उदए चदुसु वि दादु कमेण णो सक्क।
उवसंत च णिधत्त णिकाचिदं चावि जं कम्मं।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४४० तथा धवला पु० १५, पृ० २७६

२५७. धवला पु० १५ (संतकम्म), पृ० २७५

२५८ कसायपाहुड भा० १३, पृ० २३१

२५९ धवला पु० १५ (संतकम्म), पृ० २७६

२६० धवला पु० ६, पृ० २३५

उदयावलि मे आने के लिए तथा कर्म की अन्य प्रकृति रूप होने मे समर्थ नहीं है।

(१०) निकाचित— जो कर्म–प्रदेशाग्र अपकर्षण, उत्कर्षण, अन्य प्रकृति रूप संक्रमण तथा उदयावलि मे प्रविष्ट होने के लिए समर्थ नहीं है, वह निकाचित कहलाता है[२६१]। जो कर्म वास्तव मे उदीरणा, सक्रमण, उत्कर्षण इन चारों के अयोग्य हो कर अवस्थान की प्रतिज्ञा मे प्रतिबद्ध है अर्थात् अवस्थित हो कर रहता है, उसे निकाचनाकरण कहते हैं[२६२]। मिथ्यात्व से ले कर अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ये दशों करण पाए जाते है। विशेषता यह है कि मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति मे सक्रमण करण भी उपशान्तकषाय गुणस्थान मे पाया जाता है[२६३]। इस कारण मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृति के परमाणु सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणम जाते है। अपूर्वकरण गुणस्थान मे उपशम, निधत्ति और निकाचित इन तीन करणो की व्युच्छित्ति होने पर उपशान्तकषाय गुणस्थान मे मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के सात करण होते हैं एव शेष प्रकृतियो के छह करण ही होते हैं। सयोगकेवली गुणस्थान मे बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा इन चार करणो की व्युच्छित्ति होती है। अयोगकेवली गुणस्थान मे सत्त्व और उदय इन दो करणो की व्युच्छित्ति होती है[२६४]।

अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ की असयत, देशसयत, प्रमत्त और अप्रमत्तगुणस्थान मे यथासम्भव जहॉ विसयोजना होती है, वहॉ तक अपकर्षणकरण है[२६५]। मिथ्यात्व गुणस्थान मे उपशमसम्यक्त्व के सन्मुख होनेवाले जीव के एक समय अधिक आवली प्रमाण काल शेष रहने तक मिथ्यात्व प्रकृति का उदीरणाकरण होता है[२६६]। इस प्रकार उपशम, निधत्ति और निकाचित ये तीनो करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक होते

२६१ धवला पु० १६, पृ० ५१७ तथा धवला पु० ६, पृ० २३६

२६२ कसायपाहुड भा १३, पृ० २३१

२६३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४४३

२६४ वही, गा० ४४३ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२६५ वही, गा० ४४८

२६६ वही, गा० ४४६

है। जिस–जिस प्रकृति की जहाँ तक बन्धव्युच्छित्ति होती है, वहाँ तक उस–उस प्रकृति में बन्धकरण और उत्कर्षकरण होते है।

बन्धकारक भाव

जीव के सामान्य भाव पाँच (५) कहे गए हैं। इन पाँच भावों के विशेष तिरेपन (५३) भाव कहे जाते हैं। पारिणामिक भाव तीन, औदयिक भाव इक्कीस, क्षायोपशमिक भाव अट्ठारह, औपशमिक भाव दो, क्षायिक भाव नौ, इस प्रकार कुल ५३ भाव हैं। इन मे से औदयिक भाव २१ हैं जो इस प्रकार है–

४ गति, ४ कषाय, ३ वेद, ६ लेश्या, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम और असिद्धत्व।

सामान्यत पाँच प्रकार के भावों में से कर्म का बन्ध औदयिक भाव से माना गया है। कहा भी है कि मोहजनित औदयिक भाव बन्ध के कारण है, अन्य भावों से बन्ध नहीं होता। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि यदि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार भावों को बन्ध का कारण माना जाए, तो "ओदइया बधयरा उवसम–खय मिस्सया य मोक्खयरा" अर्थात् औदयिक भाव बन्ध करने वाले है, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं– इस सूत्रगाथा के साथ विरोध होता है। उत्तर है– नहीं, विरोध उत्पन्न नहीं होता है। कारण यह है कि "औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं" ऐसा कहने पर सभी औदयिक भावो का ग्रहण नहीं होता। यदि सभी भावों का ग्रहण किया जाए, तो नामकर्म सम्बन्धी गति, जाति आदि भावो के भी बन्ध के कारण होने का प्रसंग उपस्थित होगा। (धवला पु० ७, पृ० ६) वास्तव मे गति, वेद, अज्ञान और असिद्धत्त्व ये चारो प्रकार के औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं है। औदयिक भावों में से केवल कषाय, लेश्या, मिथ्यात्व और असयम भाव कर्मबन्ध के कारण कहे गए हैं। अत आठों कर्मों मे होने वाले सभी औदयिक भावों से बन्ध नहीं होता है। आचार्य गुणधर का कथन स्पष्ट है कि मिथ्यात्व, असयम और कषाय कर्मबन्ध के कारण हैं। कहा है–

> ***जे बंधयरा भावा, मोक्खयरा चावि जे दु अज्झप्पे।***
> ***जे चावि बंधमोक्खाण कारया ते वि विण्णेया।।७।।***

ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणमिओ करणोभयवज्जिओ होइ।।८।।

(कसायपाहुड, भा० १, पृ० ५४)

अर्थात्– अध्यात्म में या आत्मगत जो भाव बन्ध के कारण हैं और जो मोक्ष के कारण हैं, उन को जान लेना चाहिए। इसी प्रकार जो भाव, बन्ध और मोक्ष दोनो के कारण नहीं हैं, उनको भी जान लेना चाहिए। विशेष यह है कि गति, जाति आदि सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण नहीं हैं, किन्तु जिन मिथ्यात्व आदि औदयिक भावो के साथ बन्ध का अन्वय–व्यतिरेक देखा जाता है, वे ही बन्ध के कारण समझना चाहिए।

मिथ्यात्वकर्म का बन्धकारक मिथ्यात्वभाव-

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सभी औदयिक भावो से बन्ध नहीं होता। यथार्थ मे कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व ही बन्धकारक है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला मिथ्यात्व परिणाम कर्मोदयजनित है, इसलिये औदयिक है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि के गति, लिग, आदिक साधारण भाव भी पाए जाते हैं, किन्तु वे मिथ्यादृष्टित्व के कारण नहीं होते हैं। एक मिथ्यात्व का उदय ही मिथ्यादृष्टित्व का कारण है, इसलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह भाव औदयिक कहा गया है। (धवला, पु० ५, पृ० १९६) इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए आचार्य आगे के पृष्ठो मे कहते हैं कि जो जिससे नियमत उत्पन्न होता है, वह उसका कारण होता है। यदि ऐसा न माना जाए, तो अनवस्था दोष का प्रसग आता है। प. राजमलजी तो "पचाध्यायी" में यहाँ तक कहते हैं कि यह बात आगम मे प्रसिद्ध है कि दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध, उत्कर्ष, आदि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से ही नियम से होता है। किसी अन्य (चारित्रमोह) के उदय से दर्शनमोहनीय का बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता। जिस कार्य का जो कारण नियत है, उसी कारण से वह कार्य सिद्ध होता है। यदि कार्य–कारण पद्धति को उडा दिया जाए, तो किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके सिवाय संकर, अनवस्था दोष भी आ जाते हैं। (पचाध्यायी, भा. २, श्लोक ६२१–६२३) आचार्य वीरसेन के शब्दो मे "जदि मिच्छत्तुप्पज्जणकाले विज्जमाणा तक्कारणत्तं पडिवज्जति तो

णाण–दसण–असंजमादओ वि तक्कारणं होंति। ण चेवं, तहाविह–ववहाराभावा। मिच्छादिट्ठीए पुण मिच्छत्तुदओ कारण, तेण विणा तदणुप्पत्तीए।" अर्थात्–यदि यह कहा जाए कि मिथ्यात्व के उत्पन्न होने के काल मे जो भाव विद्यमान हैं, वे उसके कारणपने को प्राप्त होते हैं, तो फिर ज्ञान, दर्शन, असयम आदि भी मिथ्यात्व के कारण हो जायेंगे। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योकि उस प्रकार का व्यवहार नहीं पाया जाता है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण मिथ्यात्व का उदय ही है, क्योंकि उसके बिना मिथ्यात्व भाव की उत्पत्ति नहीं होती है। *(धवला, पु० ५, पृ० २०७)*

आगम से यह सिद्ध ही है कि जीव के मिथ्यात्व रागादि परिणाम का निमित्त पा कर पुराने कर्मो के साथ नए कर्म बँध जाते हैं। (पचास्ति० गा० १३४) सिद्धान्तकारो ने प्रथम गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय का उदय कहा है। मिथ्यात्व का स्वोदय मे बन्ध होता है। यदि किसी दूसरे कर्म के उदय से दर्शनमोह का बन्ध होने लगे, तब तो सदा प्रथम गुणस्थान रहेगा या गुणस्थानो की श्रृखला विच्छिन्न हो जाएगी। (पचाध्यायी, २,६२३) जो मिथ्यात्व को अधिकरण मान कर 'कषाय' को मिथ्यात्व प्रकृति का बन्धक कहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता, भले ही कषाय का कैसा भी उदय हो–नियम तो यही है। (धवला, पु० ६, शास्त्राकार, पृ० ४५) प जवाहरलाल जैन, भीण्डर के शब्दों मे "यदि अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो को मिथ्यात्व प्रकृति का बन्धक कहा जाता है, तो हम कहते हैं कि तब ये ही अप्रत्याख्यानावरणादि कषाये सासादनादि जीवो के भी मिथ्यात्व की बन्धक माननी पड़ेगीं जो कि आगमविरुद्ध है। अत जो मिथ्यात्व को मिथ्यात्व आदि के बन्ध का कारण नहीं मानते, वे बन्धतत्त्व विषयक भूल करते हैं।" (करणदशक, पृ० २४) फिर, मिथ्यादृष्टि होने का कारण कषाय नहीं है, मिथ्यात्व ही है। आचार्य यतिवृषभ का कथन है– "मिच्छाइट्ठी चेव दसणमोहणीयस्स मिच्छत्तस्सेव बधगो होदि त्ति भणिदो।" (जयधवला, भाग १२, पृ० ३१३) अर्थात्– मिथ्यादृष्टि जीव ही दर्शनमोहनीय का मिथ्यात्व के निमित्त से बन्धक होता है, अन्य नहीं।. जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व का ही बन्धक होता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मिथ्यादर्शनादि को चैतन्यपरिणाम का विकार कहा है। उनका कथन है कि मोह सहित उपयोग के अनादि काल से तीन प्रकार के परिणाम लक्षित हो रहे हैं– मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति। (समयसार, गा० ८६) इन मे कषाय का नाम नहीं है, किन्तु जिस प्रकार 'अविरति' मे कषाय गर्भित है, वैसे ही 'मोह' मे तथा 'कषाय' मे मिथ्यात्व गर्भित है– ऐसा समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार यदि मिथ्यात्व रूप भाव नहीं होगा, तो मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं हो सकता[२६७]। आचार्य अमृतचन्द्र तो यही कहते है कि कर्म या कर्मप्रकृति स्वयमेव बन्ध रूप है[२६८]। वास्तव में मिथ्यात्व भावात्मक भी है और बन्धक भी है। अत मिथ्यात्व गुणस्थान मे व अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में मिथ्यात्व का बन्ध और उदय नियम से होता रहता है[२६९]। फिर, अनन्तानुबन्धी के नवीन बन्ध के लिए तो मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान का होना आवश्यक है[२७०]। वास्तव मे बन्ध के जितने प्रत्यय है, वे योग को गौण कर भावात्मक हैं और कारणपने की अपेक्षा भावात्मक भी है और बन्धक भी है[२७१]।

मिथ्यात्व में मिथ्यात्वक्रिया

यह स्वाभाविक है कि मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व होने मे मिथ्यात्व की क्रिया का निमित्त है। क्योकि क्रिया मात्र आश्रव बन्ध की हेतु है। यदि ऐसा न माना जाए, तो कषाय भी क्रिया की निमित्त न होने से आस्रव तथा बन्ध की कारण नहीं हो सकेगी। फिर, यह स्पष्ट है कि ग्यारहवे गुणस्थान से ले कर तेरहवे गुणस्थान तक कषाय के अभाव में भी क्रिया होती है, क्योकि क्रिया का निमित्त तो योग है। इसलिये यह कहना कि भावात्मक होने से मिथ्यात्व आस्रव–बन्ध का

---

२६७ धवला पु० ८, पृ० ४२–४३

२६८ समयसार, गा० १६० की टीका

२६९ धवला पु० ८, पृ० ४३

२७० धवला पु० ८, पृ० ३१

२७१ प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री अकिंचित्करः एक अनुशीलन, पृ. ५६

कारण नहीं है, अनुचित व आधारहीन है। क्योंकि मिथ्यात्व को भावात्मक कहने से मिथ्यात्व के समान कषाय भी क्रिया का निमित्त न होने से आस्रव—बन्ध में कारण सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि यह मान लिया जाए कि जिस गुणस्थान मे जो निमित्त होते हैं, वे ही परस्पर एक—दूसरे के निमित्त हो कर आस्रव—बन्ध के कारण होते हैं, तो फिर, मिथ्यात्व की क्रिया मिथ्यात्व मे निमित्त होने से सहज ही आस्रव—बन्ध की कारण सिद्ध हो जाती है।

वास्तव मे पर्यायार्थिक नय से दर्शनावरणीय की नवो प्रकृतियों के बन्ध का एक ही भाव है। वह एक भाव कौन—सा है? वह एक भाव दर्शनावरणीय कर्म की नवो प्रकृतियो के बन्ध का कारणभूत सम्यक्त्व का अभाव (मिथ्यात्व) है। भगवन्त पुष्पदन्त—भूतबलि के शब्दों में— "एदासि णवण्हं पयडीण एक्कम्हि चेवट्ठाणं बंधमाणस्स। तं मिच्छादिट्ठिस्स वा सासणसम्मादिट्ठिस्स वा।" (षट्खण्डागम १, ६—२, ६—१०) बन्ध करने वाले जीवो के इन नवो प्रकृतियो के बन्ध का 'एक ही भाव है। आ॰ वीरसेन के शब्दो मे—"बधमाणस्स जीवस्स एदासि पयडीण बधस्स वा। को सो एक्को भावो? णवण्ह पयडीण बधहेदु सम्मत्ताभावो।" *(धवला, पु० ६, पृ० ८३)*

आचार्य भगवन्तो का यह भी कथन है कि मिथ्यात्वकर्म के उदय के बिना नरकायु का बन्ध नहीं होता। (ज त णिरयाउअ कम्म बधमाणस्स। त मिच्छादिट्ठिस्स।—षट्खण्डागम,१,६२, ५२—५३) फिर, आ० वीरसेन का निर्णय स्पष्ट है कि "अन्वय और व्यतिरेक से वस्तु का निर्णय होता है।" उनका यह भी कथन है कि मिथ्यात्व प्रकृति का मिथ्यादृष्टि जीव के सिवाय अन्यत्र बन्ध नहीं होता है। इसका कारण यह है कि अन्यत्र मिथ्यात्व प्रकृति का उदय नहीं होता है। यह नियम है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। (धवला पु० ६, पृ० ६०) इससे यह सिद्ध होता है कि बाईस प्रकृति विषयक प्रथम बन्धस्थान का स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही है। उन बाईस प्रकृतियो में मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय और जुगुप्सा— ये १६ प्रकृतियॉ ध्रुवबन्धी हैं अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान मे इनका बन्ध निरन्तर होता ही रहता है।

जिनागम का यह भी कथन है कि उपशम सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त

काल में अल्प काल शेष रहने पर यदि अनन्तानुबन्धी की किसी एक प्रकृति का उदय आ जाए और मिथ्यात्व का उदय न आए, तो सम्यक्त्व का घात तो हो जाता है, लेकिन मिथ्यात्व का उदय नहीं आने से वह मिथ्यादृष्टि नहीं होता। अत उसे सासादन सज्ञक दूसरा गुणस्थान कहा जाता है। अत' मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध निश्चित ही होता है। और मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध होने के कारण मिथ्यात्व को कर्मबन्ध का स्वतन्त्र प्रत्यय स्वीकार करना ही चाहिए।

मिथ्यात्व आधार नहीं, करण है-

"कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया" (द्वितीय सस्करण, पृ० २७) मे "गोम्मटसार कर्मकाण्ड" मे प्रयुक्त "मिच्छे" शब्द के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि अधिकरण के रूप मे जैसा प्रयोग यहाँ पर किया गया है, वैसा ही सभी गुणस्थानो मे अधिकरण कारक का प्रयोग किया गया है, करण कारक का नहीं। इसी प्रकार "अकिचित्कर" में भी कर्मबन्ध के हेतुओ मे मिथ्यात्व को अधिकरण कारक मे रखने के कारण कर्ता और करणकारक की अपेक्षा मिथ्यात्व को बन्ध का हेतु नहीं माना गया है, परन्तु उन का यह कथन तर्कसगत तथा आगम के अनुकूल नहीं है। क्योकि तर्क यह है कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि को भोगता हुआ, जीव स्वय ही मिथ्यादृष्टि हो कर पुद्गल कर्म को करता है। (समयसार, गा १०६ आत्मख्याति टीका) आचार्य कुन्दकुन्ददेव के शब्द तो अत्यन्त स्पष्ट हैं–

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा।।

अर्थात्– वास्तव मे पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्म का कर्ता है। उसके विशेष मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग बन्ध के सामान्य हेतु होने से चारो कर्ता हैं। जिनागम मे इन चारो प्रत्ययो को कर्मबन्ध का कर्ता कहा गया है। इन प्रत्ययो को केवल सामान्य ही नहीं, **मूल प्रत्यय** भी निर्दिष्ट किया गया है। (मिच्छत्तासजमकसायजोगा इदि एदे चत्तारि **मूलपच्चया** धवला, पु. ८, पृ. २०) आ वीरसेन स्वामी ने भी उपर्युक्त अधिकरणकारक के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाते हुए कहा है– प्रत्यय शब्द की सप्तमी विभक्ति कैसे सगत है? समाधान है– नहीं, क्योंकि प्राणातिपात प्रत्यय के

सम्बन्ध में ज्ञानावरणीय कर्म की वेदना होती है, ऐसा सम्बन्ध करने पर सप्तमी विभक्ति की उत्पत्ति के विषय में विरोध उत्पन्न नहीं होता; अथवा तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति समझनी चाहिए। कहा है--

"कध पच्चयस्स सत्तमीए उप्पत्ती? ण, पाणादिवादपच्चयविसए णाणावरणीयवेयणा बट्टदि त्ति संबंधिज्जमाणे सत्तमीविहत्तीए वइसइयाए उप्पत्ति पडि विरोहाभावादो। अधवा, तइयत्थे सत्तमी दट्ठव्वा।" *(धवला, पु १२, पृ. २७६)*

यही नहीं, उपशामक के प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व प्रत्ययक अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध जानना चाहिए। (यद्यपि यहाँ पर असयम, कषाय आदि अन्य भी बन्ध के कारण विद्यमान हैं, तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है, किन्तु प्रधानता से मिथ्यात्व कर्म की ही विवक्षा की गई है। धवला, पु ६, पृ २४० से उद्धृत)।

फिर, शरीर, भोगादि, जन्म--मरण, विषय--कषायादि तो ससारी जीवो को अच्छे लगते हैं, किन्तु ज्ञान--दर्शन, सयम--वैराग्य, तत्त्वोपदेश अच्छे नहीं लगते है। जब तक पर मे अपनेपन की बुद्धि नहीं होती, तब तक वह सुहाता नहीं, उस मे मजा नहीं आता है। तो मिथ्यात्व का कार्य अनुभव मे आता है और उस से पूरी तरह से जुडे हुए (बंधे हुए) हैं, प्रत्येक समय मे जुडते रहते हैं, इस पर भी यह कहना कि वह मिथ्यात्व से नहीं है, कषाय से है, वास्तव में कारण की अज्ञानता को ही सूचित करता है। आ० वीरसेन स्वामी कहते हैं कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। क्योकि कारण के विरोध के द्वारा ही सर्वत्र कार्यो मे विरोध पाया जाता है। अतएव मिथ्यात्व, असयम और कषाय कर्मो के कारण हैं, यह सिद्ध हो गया है। उनके ही शब्दों मे--"तदो मिच्छत्ता--सजमकसायकारणाणि कम्माणि त्ति सिद्ध।" *(धवला, पु. ६, पृ. ११७)*

अत: 'मिथ्यात्व' को जो अधिकरणकारक मान कर उसके कण्ठ में अकिंचित्कर की माला पहनाना चाहते हैं, वे यथार्थ से मुख मोड कर मनमाना सिद्ध करना चाहते हैं जो आगमविरुद्ध हैं। प. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री के शब्दों में "अधिकरणकारक में यह विभक्ति तो बन ही जाती है। साथ में ही उसका करणकारक अर्थ कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान,

अपादान और अधिकरणकारक विवक्षा भेद से घटित हो जाता है। इसलिये यदि शकाकार को अधिकरणकारक का अर्थ करणकारक के रूप अर्थ इष्ट है, तो करणकारक रूप अर्थ करना भी बन जाता है।" *(अकिंचित्कर: एक अनुशीलन, पृ २४ से उद्धृत)*

प्राकृत भाषा में विभक्तियो की बहुलता है। इन मे परस्पर प्राय विनिमय देखा जाता है। अत तृतीया विभक्ति के लिए सप्तमी विभक्ति का प्रयोग तथा सप्तमी विभक्ति के लिए द्वितीया, षष्ठी आदि का विधान किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि द्वितीया और तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है। *(द्वितीया–तृतीययो सप्तमी।–हेमशब्दानुशासन, ८,३,१३५)* श्री त्रिविक्रमदेव भी यही कहते हैं कि द्वितीया और तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी विभक्ति क्वचित् विकल्प से होती है, जैसे–तेसु अलकिआ पुहवी (तैरलकृता पृथिवी)। यहॉ पर तृतीया के स्थान पर सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है। *(अस्टासोर्डिप्, प्राकृतशब्दानुशासन, २,३,३६)*

अतएव 'मिच्छे' शब्द–प्रयोग को देख कर तथा छल पूर्वक मनमाना अर्थ ग्रहण कर 'मिथ्यात्व' की निमित्तता, साधनता या हेतुता का अपलाप करना सर्वथा अनुचित एव आगमविरुद्ध है।

मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति क्या है?

प्रकृति का अर्थ है– गुण, धर्म, शील, स्वभाव। अपने आप (आत्मा) को सम्यक् स्वभाव रूप न होने देना, यही मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति है। जिस के द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल किया जाता है, वह प्रकृति है। यही 'प्रकृति' शब्द की व्युत्पत्ति है। जो कर्मस्कन्ध वर्तमान काल मे फल देता है और जो भविष्यत् मे फल देगा, इन दोनों ही कर्मस्कन्धो की 'प्रकृति' सज्ञा सिद्ध है। *(धवला पु १२, पृ ३०३)* फिर, एक ही कर्म अनेक प्रकृति रूप हो जाता है। एक बार खाए गए अन्न का जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूप से अनेक प्रकार का परिणमन होता है, उसी प्रकार एक आत्म परिणाम के द्वारा ग्रहण किए गए पुद्गल अनेक भेदो को प्राप्त होते हैं। *(गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा ३३ जीवप्रबोधनी टीका)* आचार्य वीरसेन स्वामी ने स्वय यह प्रश्न उठाया है कि कार्मण वर्गणा के पौद्गलिक स्कन्ध एक स्वरूप होते हुए जीव

के सम्बन्ध से कैसे आठ भेद को प्राप्त होते हैं? समाधान है कि नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययो के आश्रय से उत्पन्न हुई आठ शक्तियों से सयुक्त जीव के सम्बन्ध से कार्मण पुद्गलस्कन्धों का आठ कर्मो के आकार से परिणमन होने में विरोध नहीं है। (धवला पु १२, पृ २८७) क्योकि एक ही पुद्गल कर्म मे अनेक तरह के कार्य करने की शक्ति सन्निहित है। अत मिथ्यात्व को अतत्त्वश्रद्धान मात्र से जोडना उचित नहीं है। क्योंकि अनुभाग में और प्रकृति मे अन्तर है। तत्त्व मे रुचि नहीं होना, परमात्मा की श्रद्धा तथा आत्मश्रद्धान न होना– यह अनुभाग रूप कार्य है। यथार्थ में मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति का कार्य अश्रद्धान रूप होना है। प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है, उसे कषाय से उत्पन्न मानने मे विरोध आता है। भिन्न कारणों से उत्पन्न होने वाले कार्यों में एकरूपता नहीं हो सकती। (धवला पु १२, पृ ६१)

मोहनीय की प्रकृति, सामान्य की अपेक्षा सभी प्रकृतियों में कोई भेद नहीं है। इस अपेक्षा से 'कषाय' को 'मिथ्यात्व' में गर्भित कर मिथ्यात्व से भी स्थिति, अनुभागबन्ध होता है– यह सिद्ध हो जाता है। (जयधवला, भा ३, पृ ३) वहीं पर यह भी कहा गया है कि मूल प्रकृतिस्थिति किसे कहते हैं? समाधान है कि प्रकृति सामान्य की अपेक्षा एकत्व को प्राप्त हुई अट्ठाईस प्रकृतियो की जो स्थिति विशेष है, उसे मूल प्रकृतिस्थिति कहते हैं।

मोहनीय की प्रकृति है– पर पदार्थो मे ममत्व बुद्धि धारण कराना। मिथ्यात्व गुणस्थान मे नियम से औदयिक भाव होता है जो दर्शनमोह के आश्रय से प्रकट होता है। कहा भी है–

मिच्छे खलु ओदइओ विदिए पुण पारिणामिओ भावो।
मिस्से खओवसमिओ अविरदसम्मम्मि तिण्णेव।।
एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद अंतेसु ठाणेसु।।

(गोम्मटसार जीव०, गा ११, १२)

अर्थात्– मिथ्यात्व गुणस्थान में नियम से औदयिक भाव होता है, पुनः द्वितीय सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव, मिश्र गुणस्थान में

क्षायोपशमिक भाव और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान मे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीनो भाव सम्भव हैं। ये भाव दर्शनमोहनीय कर्म की अपेक्षा कहे गए हैं, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक व्यवहार चारित्र नहीं होता है।

यथार्थ मे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धको का उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति कही जाती है।

यदि पं. जगन्मोहनलाल जी शास्त्री का प्रतिपादन आगम सम्मत मान लिया जाए, तो मूल मे दो महान् प्रश्न उत्पन्न हो जायेगे। प्रथम यह कि यदि कषाय ही सर्वथा स्थिति–अनुभाग बन्ध मे कारण है, तो मिथ्यात्व मे अपनी प्रकृति के अनुसार अनुभाग पडता है या कषाय की प्रकृति के अनुसार भी अनुभाग पडता है? क्या जिनागम में एक कर्म–प्रकृति दो प्रकार के अनुभाग डालने मे समर्थ है, ऐसा उल्लेख कहीं मिलता है? और यदि यही इष्ट है, तो फिर मिथ्यात्व भी कषाय का फल दे सकता है– यह कहने मे क्या बाधा है? लेकिन यह मान्य नहीं हो सकता, क्योकि जिनागम मे ऐसा प्रतिपादन नहीं है।

दूसरा मौलिक प्रश्न यह है कि विसयोजित अनन्तानुबन्धी वाले जीव के मिथ्यात्व मे आने पर उस के एक आवलीकाल तक अनन्तानुबन्धी का उदय प्राप्त नहीं होता। उस समय बॅधने वाले मिथ्यात्व प्रत्ययक कर्मो मे स्थिति–अनुभाग कौन डालता है?

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि विसयोजित अनन्तानुबन्धी वाले जीव के मिथ्यात्व मे आने पर नियमत उस के एक आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता है।[२७२] किन्तु उस समय अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्वप्रत्ययक प्रकृति के बॅधने मे कोई बाधा नहीं है। क्योकि बन्ध तो निरन्तर होता रहता है। एक समय के लिए भी रुक नहीं सकता। अत मिथ्यात्व प्रकृति निरन्तर तथा ध्रुवबन्धी होने से बॅधती रहती है। केवल मिथ्यात्व कर्मप्रकृति ही

---

२७२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४७८, पचसग्रह, गा० ३०५, धवला पु० ८, २५, धवला पु० १५, पृ० ४–५, ६७, जयधवल भा० १०, पृ. ११७

नहीं, सभी कर्म की मूल प्रकृतियाँ उदित हो कर स्थितिबन्ध की विशेष कारण होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उन प्रकृतियों के उदय में जो जीव के परिणाम होते हैं, वे स्थितिबन्ध के विशेष कारण हैं। कहा भी है[२७३]– समस्त मूल प्रकृतियो के अपने–अपने उदय से, समुत्पन्न परिणामो की ही अपनी–अपनी स्थितिबन्ध मे कारण होने से, उन्हीं की स्थितिबन्धाध्यवसान– स्थान संज्ञा है–ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रश्न है कि विसयोजना–काल मे किस कषाय से बन्ध होता है? क्योकि विसंयोजक जीव के मिथ्यात्व मे आते ही प्रथम समय मे ही उस के अनन्तानुबन्धी का बन्ध होने लगता है। अनन्तानुबन्धी भी ध्रुवबन्धी प्रकृति है।[२७४] अतः मिथ्यात्व गुणस्थान मे पतन होते ही प्रत्येक ससारी जीव के नियम से प्रथम समय में ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध होता है। जिनागम में मोहनीय कर्म के दस बन्धस्थान कहे गए हैं[२७५]। उनमे से प्रथम गुणस्थान मे बाईस प्रकृतियो का समूह रूप एक ही बन्ध–स्थान निरूपित किया गया है[२७६]। दर्शनमोहनीय का उपशम करने वाले जीव के जब तक अन्तर प्रवेश नहीं होता है अर्थात् मिथ्यात्व का उपशम नहीं होता है, उस के पूर्व तक नियम से मिथ्यात्व का उदय और मिथ्यात्व का बन्ध होता है जो प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक निरन्तर होता रहता है। दर्शन मोहनीय का उपशम करने वाला भव्य जीव उपशमसम्यक्त्व के काल के भीतर प्रथम अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है, क्योकि विसयोजन क्रिया के बिना मिथ्यात्व का न स्थितिघात हो सकता है और न अनुभागघात हो सकता है[२७७]।

---

२७३. "सव्वमूलपयडीण सगसगउदयादो समुप्पण्णपरिणामाण सगसग–ट्ठिदिबधकारणत्तेण ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणसंण्णिदाणं एत्थ गहण कायव्व।" धवला पु० ११ पृ. ३१०

२७४. जयधवला भा० १०, पृ० ११६–११७

२७५. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४६३

२७६. वही, गा० ४६४

२७७. धवला पु० ६, पृ० २३५ शास्त्राकार, पृ० ११८

कषाय क्या है?

'कषाय' की निरुक्ति दो प्रकार से की गई है– 'कृष्' धातु कर्षण अर्थात् जोतने अर्थ में तथा 'कस्' धातु कसने या घात करने के अर्थ में है। 'घातना' अर्थ मूल मे प्राकृत भाषा की परम्परा का है जो 'हिंसा' अर्थ का वाचक है[२७८]। यथार्थ में कषाय आत्मस्वभाव किंवा चारित्र परिणाम की घातक है[२७९]। क्रोधादि परिणाम आत्मा के स्वरूप की हिंसा करते हैं। कषाय मोहनीय कर्म रूप है। राग–द्वेष को उत्पन्न करने वाली कषाय है और कषाय का मूल आधार मोह कर्म है। जो सुख–दु ख रूप धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी खेत को जोतती है, फल उत्पन्न करने योग्य बनाती है, उसे 'कषाय' कहते हैं[२८०]। सिद्धान्त ग्रन्थो मे कर्म के स्वभाव को जीव अर्थात् ससारी जीव की प्रकृति तथा कर्म के कार्यों को जीव का कार्य कहा जाता है। इस पर से शकाकार कहता है कि कषाय नाम जीव का गुण है, तो उसका विनाश नहीं हो सकता है, जिस प्रकार जीव के ज्ञान–दर्शन गुणो का विनाश नहीं होता है। इसका उत्तर देते हुए आ वीरसेन स्वामी कहते हैं[२८१] कि ज्ञान–दर्शन तो जीव का लक्षण

---

२७८ "कषन्ति हिंसन्तीति कषाया", कर्मकाण्ड गा० ३३ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, तथा–"क्रोधादिपरिणाम कषति हिनस्त्यात्मान कुगतिप्रापणादिति कषाय "–तत्त्वार्थराजवार्तिक ६, ४, २

२७९ "चारित्रपरिणामकषणात् कषाय ।" वही, ६, ७, ११ तथा–"कषन्तीति कषाया ।"

२८० सुह–दुक्ख बहुसस्स कम्मक्खेत्तं कसेइ जीवस्स।
ससारगदी मेर तेण कसाओ त्ति ण वेति।। पचसग्रह, गा० १०६ तथा–"कर्मक्षेत्र कृषन्तीति कषाया ।"

२८१ "कसाओ णाम जीवगुणो, ण तस्स विणासो अत्थि, णाण–दसणाणमिव। विणासे वा जीवस्स विणासेण होदव्व, णाणदसणविणासेणेव। तदो ण अकसायत्त घडदे इदि? होदु णाण–दसणाणं विणासम्हि जीव विणासो तेसि तल्लक्खणत्तादो। ण कसाओ जीवस्स लक्खण, कम्मजणिदस्स तल्लक्खणत्तविरोहा।"–धवला पु. ५ (१, ७, ४४) शास्त्राकार, पृ.११२

है, इसलिये उनका विनाश होने पर जीव का विनाश हो जाएगा; किन्तु कषाय के अभाव में जीव का विनाश नहीं होता। कषाय कर्म से उत्पन्न होती है, क्योंकि कषायों की वृद्धि होने पर ज्ञान की हानि होती है। अतः कषाय जीव का लक्षण नहीं है। इसी प्रकार जोतने का कार्य मिथ्यात्व करता है जो कि जीव का वास्तविक जीवन नहीं है।

यथार्थ मे जो ज्ञाता–द्रष्टा स्वभाव से च्युत कर जीव को राग–द्वेष भाव रूप कर देती है, वह कषाय है। कषाय में मुख्यतया इष्ट–अनिष्ट भाव देखे जाते हैं। पण्डितप्रवर टोडरमलजी के शब्दों में पदार्थ इष्ट–अनिष्ट भासने पर क्रोधादिक होते हैं। इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व और कषायभाव होते हैं। जब चारित्रमोह के उदय से इस जीव को कषायभाव होता है, तब यह देखते–जानते हुए भी पर पदार्थों मे इष्ट–अनिष्टपना मान कर क्रोधादिक करता है। क्रोधादिक (क्रोध, मान, माया, लोभ) चारो कषायो मे से एक काल मे एक ही का उदय होता है। इन कषायो के परस्पर कारण–कार्यपना है। क्रोध से मानादिक हो जाते हैं, मान से क्रोधादिक हो जाते हैं। इसलिये किसी काल मे भिन्नता भासित होती है, किसी काल मे भासित नहीं होती। इस प्रकार कषाय रूप परिणमन जानना[२८२]।"

अप्रवाह्यमान उपदेश के अनुसार जो कषाय है, वही अनुभाग है। अत जो क्रोध–मान–माया–लोभ कषाय है, वही क्रमश क्रोध–मान–माया–लोभानुभाग है। किन्तु प्रवाह्यमान उपदेश के अनुसार 'जो कषायो के उदयस्थान हैं, वे अनुभाग हैं[२८३]।"

मिथ्यात्व का बन्ध किस से?

मिथ्यात्व का बन्ध निरन्तर होता है, क्योंकि वह ध्रुवबन्धी प्रकृति है। शेष तीन प्रकृतियो का सान्तर बन्ध होता है, क्योंकि एक समय में

---

२८२ मोक्षमार्गप्रकाशक, तृतीयावृत्ति, १६७८, दूसरा अधिकार, पृ० ३७–४०
२८३. कसायपाहुडसुत्त, पृ० ५८०–५८१

उनके बन्ध का विश्राम देखा जाता है[२८४]। बन्ध के विषय मे कुछ विशेष नियमों का निर्देश करते हुए कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर और आहारकद्विक, इन प्रकृतियो को छोड कर शेष सभी प्रकृतियों का बन्ध करने वाला कहा गया है। इस का कारण यह है कि तीर्थंकर प्रकृति का सम्यक्त्व गुण के निमित्त से और आहारकद्विक का सयम के निमित्त से बन्ध होता है। किन्तु शेष एक सौ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व आदि कारणो से बन्ध को प्राप्त होती है[२८५]।

उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के अथवा ईषत् मध्यम परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है[२८६]। एकेन्द्रिय जीव मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति एक सागर प्रमाण बॉधते हैं। दो–इन्द्रिय जीव २५ सागर, त्रीन्द्रिय ५० सागर और चौ–इन्द्रिय एक सौ सागरप्रमाण बॉधते हैं। असज्ञी पचेन्द्रिय जीव एक हजार सागरप्रमाण बाँधते हैं। सज्ञी पर्याप्तक जीव ही सत्तर कोडाकोडी सागरप्रमाण बाँधते हैं। मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति एकेन्द्रिय जीव अपनी उत्कृष्ट स्थिति से पल्य के असख्यातवे भाग कम बॉधता है और शेष द्वीन्द्रिय आदि अपनी–अपनी उत्कृष्ट स्थिति से पल्य के सख्यातवे भाग हीन बॉधते हैं[२८७]।

मिथ्यात्व और कषाय दोनो का सामान्यत भावबन्ध नाम है। बन्ध के सम्बन्ध मे सामान्य नियम यह है कि स्वोदयी प्रकृतियो का बन्ध अपने उदय मे होता है, किन्तु स्व–पर बन्धी प्रकृतियॉ अपने से बॅधती हैं और पर से भी बॅधती हैं। आचार्य यतिवृषभ के कथन के अनुसार

---

२८४ "मिच्छत्तस्स णिरतरो बधो, धुवबधित्तादो। सेसाण तिण्ण सातरो, एगसमएण बधुवरमदसणादो।" धवला पु० ८ (३, ४६), शास्त्राकार, पृ० ५१

२८५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० १३५

२८६ "उत्कृष्टसक्लिष्टमिथ्यादृष्टे ईषन्मध्यमपरिणाममिथ्यादृष्टेर्वा उत्कृष्टस्थितिबन्धो भवति।" वही, गा० १३५ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२८७ वही, गा० १४४ तथा सस्कृत टीका

अभेद विवक्षा से उदय प्रकृतियाँ एक सौ बाईस हैं। उनके उदय की अवधि को उदय–व्युच्छित्ति कहते हैं अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों की व्युच्छित्ति कही है, उन का उदय उसी गुणस्थान पर्यन्त होता है, उस के आगे उन का उदय नहीं होता। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान में दश तथा सासादन में चार प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती है[२८८]। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे उदय ११७ प्रकृतियों का तथा अनुदय तीर्थंकर, आहारक द्विक, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इन पाँच प्रकृतियों का कहा गया है[२८९]।

'औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं' यह जिनागम का एक सामान्य नियम है। कहा भी है—औदायिक भाव बन्ध करने वाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनो के कारणो से रहित हैं[२९०]। इसी प्रकार मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग बन्ध के सामान्य प्रत्यय हैं। इसलिये सभी तरह के औदयिक भावों को बन्ध का कारण नहीं माना जा सकता है। तब फिर, किन भावो को बन्ध का कारण माना जाए? इस सम्बन्ध मे आचार्य वीरसेन स्वामी यह न्याय प्रस्तुत करते हैं कि जिस के अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिस के अन्वय और व्यतिरेक पाये जाये, वह उस का कार्य और दूसरा कारण होता है। इस न्याय से मिथ्यात्व आदिक ही बन्ध के कारण हैं, क्योकि मिथ्यात्व के उदय के अन्वय और व्यतिरेक के साथ इन सोलह (मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जाति, हुडसस्थान, असप्राप्तसृपाटिका शरीर सहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त,

---

२८८ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० २६३ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२८९. वही टीका

२९० ओदइया बधयरा उवसम–खय–मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होदि।।३।। धवला पु. ७, (२, १, ७), शास्त्राकार, पृ० ५

साधारण) प्रकृतियों के बन्ध का अन्वय–व्यतिरेक पाया जाता है[२६१]। इस से यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यात्व से ही मिथ्यात्व का बन्ध होता है। 'खुद्दाबन्ध' के प्रारम्भ मे ही आचार्य वीरसेन स्वामी यह स्पष्ट कर चुके हैं कि मिथ्यात्वादि भाव वाला जीव स्वय बन्धक है[२६२]।

आचार्य गुणधर यह कहते हैं कि उपशामक के मिथ्यात्वप्रत्ययक अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व का और ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध जानना चाहिए। किन्तु दर्शनमोहनीय की उपशान्त अवस्था मे मिथ्यात्वप्रत्ययक बन्ध नहीं होता है। उपशान्त अवस्था के समाप्त होने पर उस के पश्चात् मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध भजनीय है[२६३]। इससे भी स्पष्ट है कि दर्शनमोह के उपशम करने वाले जीव के अतर से पूर्ववर्ती प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध होता है।

आ० वीरसेनस्वामी अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि बाईस प्रकृति रूप प्रथम बन्ध स्थान मिथ्यादृष्टि के होता है। क्योकि मिथ्यात्व प्रकृति का मिथ्यादृष्टि जीव के सिवाय अन्यत्र बन्ध नहीं होता है। इस का कारण यह है कि अन्यत्र मिथ्यात्व प्रकृति का उदय नहीं होता है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है[२६४]। अत उक्त प्रथम बन्धस्थान का स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही है।

---

२६१ "जस्स अण्णय–वदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय–वदिरेगा उवलभति त तस्स कज्जमियर च कारणं' इदि णायादो मिच्छत्ता–दीणिचेव बधकारणाणि। तत्थ मिच्छत्त सोलसण्ह पयडीण बंधस्स मिच्छत्तुदओ कारण, तदुदयण्णय–वदिरेगेहि सोलसपयडीबधस्स अण्णय–वदिरेगाणमुवलभादो।" वही, पृ० ५

२६२ धवला पु० ७, (२, १, १), पृ० १

*२६३ मिच्छत्तपच्चयो खलु बधो उवसामगस्स बोद्धव्वो।
उवसते आसाणे तेण पर होइ भजियव्वो।। कसायपाहुडसुत्त, गा० १०१*

२६४ "त मिच्छादिट्ठिस्स।।२२।। कुदो? मिच्छत्तस्सण्णत्थ बंधाभावा। त पि कुदो? अण्णत्थ मिच्छत्तोदयाभावा। ण च कारणेण विणा कज्जस्सुप्पत्ती अत्थि, अइपसगादो। तम्हा मिच्छादिट्ठी चेव सामी होदि।" धवला पु० ६, (१, ६–२,२२), शास्त्राकार, पृ० ४५

उपर्युक्त बाईस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, और जुगुप्सा ये उन्नीस प्रकृतियाँ ध्रुवबन्धी हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान मे इन का बन्ध निरन्तर होता रहता है। मिथ्यात्व, नपुसकवेद, हुण्डसस्थान और असप्राप्तसृपाटिका सहनन, ये एकस्थान प्रकृतियाँ हैं। इन मे **मिथ्यात्व का बन्ध और उदय दोनों साथ में व्युच्छिन्न होते हैं,** क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे ही ये दोनो देखे जाते हैं[२६५]। यही नहीं, अनन्तानुबन्धी लोभ के प्रदेशाग्र से भी मिथ्यात्व का प्रदेशाग्र अधिक है। (धवला पु. १५, पृ ३६) मिथ्यात्व की यह विशेषता है कि उस की उदीरणा अनादि–अनन्त, अनादि–सान्त काल तक होती है, किन्तु अनन्तानुबन्धी की उदीरणा अन्तर्मुहूर्त तक ही होती है। (धवला पु. १५, पृ २२८–२९) अत अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व का बन्ध कैसे कर सकता है?

स्वोदयबन्धी- घातिकर्म की चौदह प्रकृतियॉ (५ ज्ञानावरण, ४ दर्शनावरण, ५ अन्तराय) ध्रुवोदयी बारह प्रकृतियॉ (तैजस, कार्मण, वर्णादि ४, स्थिर–अस्थिर, शुभ–अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण) तथा मिथ्यात्त्व ये २७ प्रकृतियॉ स्वोदयबन्धी हैं[२६६] अर्थात् इनका बन्ध अपने ही उदय मे होता है।

इस कथन से जिनागम भरपूर है कि मिथ्यात्व का बन्ध स्वय के ही उदय होने पर होता है[२६७]। इसी प्रकार मिथ्यात्त्व का सादि–अनादि,

---

२६५ "मिच्छत्त–णवुसयवेद–हुडसठाण–असपत्तसेवट्टसंघडणाणि एगट्ठाणपयडीओ।
एत्थ मिच्छत्तस्स बधोदया सम वोच्छिण्णा, मिच्छाइट्ठिम्हि चेव तदुहयदसणादो।"–धवला पु० ८, (३, २, ७५) पृ० १७६

२६६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४०३ तथा जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

२६७. धवला पु० ८ (३, ६), शास्त्राकार पृ० ७–८, " मिच्छत्तस्स सोदएणेव बधो" धवला पु० ८ (३, १६), शास्त्राकार पृ० २२, (३, ६८), पृ० ६२, (३, ८४), पृ० ७२, (३, १०२), पृ० ८४, (३, १५), पृ० १०७, (३, १५४), पृ० १११, (३, १५५), पृ० ११४, (३, १६६), पृ० १२०, (३, २५८), पृ० १६४, (३, २६४), पृ० १७०, (३, २७२), पृ० १७३, (३, २७५), पृ० १७६, (३, २७७), पृ० १८०, (३, २९४), पृ० १८७, (३, ३२२), पृ० १९४

ध्रुव–अध्रुव चारों प्रकार का बन्ध पाया जाता है[२९८]। अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ का बन्ध और उदय दोनो एक साथ व्युच्छिन्न होते हैं, क्योंकि सासादन गुणस्थान मे उन दोनो का अभाव देखा जाता है[२९९]। मूल प्रकृतियाँ नियम से सब जीवो के स्वोदय द्वारा ही विपाक को प्राप्त होतीं हैं। किन्तु मोह और आयुकर्म को छोड कर शेष उत्तर प्रकृतियॉ स्वमुख तथा परमुख से भी फल देती हैं[३००]।

अनन्तानुबन्धी का विसयोजन करने वाला वेदक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व कर्म के उदय से यदि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे आता है, तो उस के एक आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता है। ऐसी स्थिति मे मिथ्यात्व दशा को प्राप्त होने के प्रथम समय मे उस ने जो समयप्रबद्ध बॉधा था, उसका अपकर्षण करके एक आवली प्रमाण काल तक उदयावली मे लाने मे वह असमर्थ होता है और अनन्तानुबन्धी का बन्ध मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान मे होता है[३०१]। यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि पूर्व मे जो अनन्तानुबन्धी थी, उस का विसयोजन कर दिया, तो जो सत्ता मे है ही नहीं, वह बन्धकारक कैसे हो सकती है? ऐसी दशा मे तो वह न अपना बन्ध कर सकती है और न सदा जिस के साथ रहती है, उसका बन्ध कर सकती है।

कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे मुख्य रूप से यह स्मरणीय है कि अशुद्ध भाव की प्रधानता है। अशुद्ध उपयोग ही वह उपादान है, जिस के निमित्त से बन्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि ग्रहण तो योगो से होता है और बन्ध अशुद्धोपयोग रूप भावो के निमित्त से

---

२९८ "मिच्छाइट्ठिस्स चउव्विहो बधो, धुवबधित्तादो। सेसाण तिविहो बधो, धुवत्ताभावादो।" धवला पु० ८, (३, २६), पृ० ३०, पृ० ६१, पृ० ७०, पृ० ११४, पृ० १२७, पृ० १६५, पृ० १७२, पृ० १७४, पृ० १७६ आदि।
२९९ "अणताणुबंधिचउक्कस्स बधोदया समं वोच्छिज्जति, सासणम्मि उभयाभावदंसणादो।" धवला पु० ८, (३, ७६), पृ० ७१
३०० पच्चति मूलपयडी णूण समुहेण सव्वजीवाणं।
समुहेण परमुहेण य मोहाउविवज्जिया सेसा।। पचसग्रह अ. ४, गा ४४६
३०१ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ४७८ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका

होता है, जो रति राग–द्वेष–मोह से युक्त होता है[302]। आचार्य जयसेन के शब्दो मे निष्क्रिय, निर्विकार चैतन्य ज्योति रूप परिणाम से भिन्न मन–वचन–काय की वर्गणाओं के आलम्बन रूप व्यापार से आत्मप्रदेशो का परिस्पन्द लक्षण वाला जो योग है, वह वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मो को ग्रहण करने मे कारण है। बन्ध भाव के निमित्त से होता है। वह क्या है? स्थिति– अनुभागबन्ध है। भाव कहा जाता है– जो राग, द्वेष, मोह से युक्त होता है तथा रागादि दोष रहित चैतन्य प्रकाश की परिणति से भिन्न मिथ्यात्वादि, कषाय आदि, दर्शन–चारित्र–मोह इन तीनो के १२ भेद वाला रति–राग, द्वेष और मोह से युक्त है। यहाँ 'रति' शब्द से रति के अविनाभावी हास्य, वेद रूप नोकषाय ग्रहण करे तथा 'राग' शब्द से माया, लोभ राग के परिणाम तथा 'द्वेष' शब्द से क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, द्वेष के छह तरह के परिणाम एव 'मोह' शब्द से दर्शनमोह ग्रहण करना चाहिए[303]।

यथार्थ मे बन्ध तो स्थिति, अनुभाग रूप है। क्योकि आगम मे एक समय के बन्ध को बन्ध ही नहीं कहते हैं। एक समय का बन्ध वैसा ही कहा गया है, जिस तरह मुट्ठी भर बालू सूखी दीवार पर फेक दी गई हो, लेकिन वह दीवार से बँधती नहीं है। इसी प्रकार स्थिति के बिना सम्बन्ध टिकता नहीं है[304]। अनुभागबन्ध इसलिये मुख्य कहा गया है कि

---

३०२. जोगणिमित्त गहण जोगो मणवयणकायसभूदो।
भावणिमित्तो बधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।। पचास्तिकाय, गा० १४८

३०३ "योगो मनवचनकायसम्भूतः निक्रियनिर्विकारचिज्ज्योति परिणामाद्भिन्नो मनोवचनकायवर्गणालम्बनरूपो व्यापार आत्मप्रदेश परिस्पन्दलक्षणो वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनित· कर्मादानहेतुभूतो योगः। भावनिमित्तो भवति। स क। स्थित्यनुभागबन्ध। भाव. कथ्यते।..... मोह शब्देन दर्शनमोहो गृह्यते इति" –पंचास्तिकाय, गा. १४८ की तात्पर्यवृत्ति टीका

३०४ "तस्स ट्ठिदि–अणुभागबधाभावेण सुक्ककुड्डपक्खित्तवालुवमुट्ठि व्व जीवसंबंधविदियसमए चेव णिवदंतस्स बंधववएसविरोहादो।" धवला पु० १३, (५, ४, २४), पृ० ५४

वही सुख–दुःख रूप फल का निमित्त होता है[३०५]। इसलिये यह तो निश्चित है कि ऋजुसूत्रनय से विचार करने पर प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं। परन्तु आगम में यह भी स्वीकार किया गया है कि नैगम, सग्रह और व्यवहारनय से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पॉचो बन्ध के कारण है, जो सामान्य कारण कहे गये हैं। ऋजुसूत्र नय से जो कारण कहे गए हैं, वे विशेष कारण हैं।

विसंयोजना क्या है?

उपशम तथा क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति विधि मे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का अप्रत्याख्यानादि रूप क्रोध, मान, माया, लोभ मे परिणमित हो जाना विसयोजना कही जाती है। आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्कन्धो को पर प्रकृति रूप से परिणमा देने को विसयोजना कहते हैं[३०६]। उनका यह भी कथन है कि अनन्तानुबन्धी को छोड कर पर रूप से परिणत हुए अन्य कर्मो की पुन उत्पत्ति नहीं पाई जाती है। यह सभी आचार्यो का मत है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजना वेदकसम्यग्दृष्टि करता है। किन्तु उपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होती है– इस सम्बन्ध मे दो मत हैं। कुछ आचार्यो का मत है कि उपशम सम्यक्त्व का काल अल्प है और अनन्तानुबन्धी की विसयोजना का काल अधिक है, इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी की विसयोजना नहीं करता है। परन्तु कुछ आचार्यो का मत है कि उपशम सम्यक्त्व के काल मे भी अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होती है। यह दूसरा मत प्रवाह रूप से चला आता है जो मुख्य है। इससे यह तो निश्चित हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीव ही अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करता है। विसयोजना का कारण सम्यक्त्व रूप परिणाम कहा गया है। लेकिन इसका यह अर्थ

---

३०५ "अनुभागबन्धो हि प्रधानभूत । तन्निमित्तत्वात्–सुखदु.खविपाकस्य।" तत्त्वार्थराजवार्तिक ६, ३, ७

३०६ "का विसजोयणा? अणताणुबधिचउक्कक्खधाण परसरूवेण परिणमणं विसजोयणा।" कसायपाहुड भा॰ २ (पयडिविहत्ति), पृ० २१६

नहीं है कि सभी सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते हो, किन्तु जो भी सम्यग्दृष्टि जीव विसयोजना करता है, वह विशिष्ट सम्यक्त्व रूप परिणामो के द्वारा ही करता है। सयम रूप परिणामों की अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायो की विसयोजना मे कारणभूत सम्यक्त्व रूप परिणाम अनन्त गुने उपलब्ध होते हैं[३०७]। इस विषय में सभी एक मत हैं कि विसयोजक जीव के मिथ्यात्व मे आने पर उसका पुनः संक्रमण और बन्ध होने लगता है। विवाद उदय के विषय में है, क्योंकि विसंयोजक के सासादन गुणस्थान मे आते ही नियम से अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक का उदय माना गया है। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं[३०८]-- वहाँ पर अनन्तानुबन्धी की किसी एक प्रकृति के प्रवेश का नियम क्यो है? नहीं, क्योकि सासादन गुण उस के उदय का अविनाभावी है। पूर्व मे सत्ता से रहित अनन्तानुबन्धी कषाय का वहाँ पर उदय कैसे सम्भव है? नहीं, क्योकि परिणामो के माहात्म्यवश शेष कषायो का द्रव्य उसी समय उस रूप से परिणमन कर उस का उदय देखा जाता है। इसलिये सासादन मे जाने के बाद अनन्तर समय मे पच्चीस प्रकृतियाँ प्रवेश करती है, क्योकि उदयावलि के बाहर स्थित तीन प्रकार की अनन्तानुबन्धियो का उस समय मे उदयावलि के भीतर प्रवेश देखा जाता है।

---

३०७ "संजमपरिणामेहितो अणताणुबधीण विसजोजणाए कारणभूदाण सम्मत्तपरिणामाणमणतगुणत्तुवलभादो। जदि सम्मत्तपरिणामेहि अणंता-णुबधीण विसजोजणा कीरदे तो सव्वसम्माइट्ठीसु तब्भावो पसज्जदि त्ति वुत्तेण, विसिट्ठेहि चेव सम्मत्त परिणामेहि तव्विसजोयणब्भुवगमादो त्ति।" धवला पु० १२, वेदना खण्ड (४, २, ७, १७८), पृ० ८२ से उद्धृत

३०८ "कुदो तत्थाणताणुबंधीणमण्णदरपवेसणियमो? ण, सासणगुणस्स तदुदयाविणाभावित्तादो। कधं पुव्वमसतस्साणंताणुबधिकसायस्स तत्थुदयसभवो? ण, परिणाममाहम्मेण सेसकसायदव्वस्त तक्कालमेव तदायारेण परिणमिय उदयदसणादो। तदो आसाणगमणादो से काले पणुवीस पयडीओ पविसंति। कि कारण? उदयावलियबाहिरट्ठिद --तिविहाणंताणुबंधीण तम्मि समए उदयावलियब्भंतर पवेसदंसणादो।" कसायपाहुड भा० १० (वेदगो ७), पृ० १२४ से उद्धृत

यथार्थ में मोहनीय कर्म का उदय चार प्रकार का है--प्रकृति उदय, स्थितिउदय, अनुभागउदय और प्रदेशउदय। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व की स्थिति में ये चारों प्रकार के उदय देखे जाते हैं। इसलिये जब कोई जीव सीधा मिथ्यात्व में आता है, तो अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक के उदय के बिना भी मिथ्यात्व गुणस्थान बन जाता है, क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थान की प्राप्ति मिथ्यात्व के उदय से होती है, न कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क मे से किसी एक के उदय से होती है। कहा भी है कि मिथ्यात्व के उदय से कार्मणवर्गणास्कन्धो के अनन्तानुबन्धी चतुष्क रूप से परिणमन करने मे कोई विरोध नहीं आता है[३०९]।

यह तो सुविदित तथ्य है कि प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व मे जिन प्रकृतियो की बन्ध--व्युच्छित्ति होती है, वे कर्म--प्रकृतियॉ सोलह हैं। उन में से एक मिथ्यात्व ध्रुवबन्धिनी प्रकृति है। अन्य जिन हुडक सस्थान आदि पन्द्रह प्रकृतियो की बन्ध--व्युच्छित्ति कही जाती है, वे सब सप्रतिपक्ष प्रकृतियॉ हैं। इसलिये यह सहज ही माना जा सकता है कि जब मिथ्यात्व गुणस्थानों मे उन प्रकृतियो के बन्ध के कारण नहीं होते, तब उन का बन्ध न हो कर उनकी सप्रतिपक्ष प्रकृतियो का बन्ध होने लगता है। यद्यपि अन्य सप्रतिपक्ष प्रकृतियो का बन्ध तो मिथ्यात्व रूप परिणामो के अभाव मे भी होना सम्भव है, किन्तु उन पन्द्रह प्रकृतियों का जब भी बन्ध होगा, तब मिथ्यात्व रूप परिणाम के होने पर ही होगा, अन्यथा नहीं होगा। उस समय जीव के अनन्तानुबन्धी का उदय रहे या न रहे, इस से उन पन्द्रह प्रकृतियो के बन्ध होने या न होने मे कोई अन्तर नहीं पडता है।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाला कौन?

अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होती है, क्षय नहीं। उसका क्षय क्यो नहीं होता? क्योकि सत्ता से जो विसयोजित हो गई है और जो प्रथम गुणस्थान को प्राप्त हो गई है, उस की सत्ता पुन अस्तित्व मे आ जाती है; क्योंकि प्रदेशक्षय नहीं होता। अत. अनन्तानुबन्धी को छोड कर

---

३०९ "कुदो असंतस्स अणताणुबंधिचउक्कस्स उप्पत्ती? ण, मिच्छत्तोदएण कम्मइयवग्गणक्खधाणमणताणुबंधिचउक्कसरूवेण परिणमणं पडि विरोहाभावादो।" कसायपाहुड भा० ४ (ट्ठिदिविहत्ति), पृ० २४

पर रूप से परिणत हुए अन्य कर्मों की पुनः उत्पत्ति नहीं पाई जाती है[310]।

प्रश्न यह है कि अनन्तानुबन्धी की विसयोजना कौन करता है? उत्तर देते हुए आ० वीरसेन स्वामी कहते हैं– सम्यग्दृष्टि जीव विसंयोजना करता है। तब फिर प्रश्न है–मिथ्यादृष्टि जीव विसंयोजना नहीं करता है, यह कैसे जाना जाता है? समाधान करते हुए कहते हैं कि 'सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतियो के स्थान का स्वामी है; इस सूत्र से जाना जाता है कि मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता है। फिर, एक प्रश्न है कि अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करने वाले सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाने पर वह मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतियो के स्थान का स्वामी क्यो नहीं होता है? उत्तर है कि नहीं, क्योकि ऐसे जीव के मिथ्यात्व को प्राप्त होने के प्रथम समय मे ही चारित्रमोहनीय के कर्मस्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूप से परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस के चौबीस प्रकृतियों की सत्ता न रह कर अट्ठाईस प्रकृतियो की ही सत्ता पाई जाती है[311]।

यह भी एक प्रश्न है कि यदि सम्यक्त्व रूप परिणामों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायो की विसयोजना की जाती है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवो को विसयोजक होना चाहिए? उत्तर देते हैं कि सब सम्यग्दृष्टियों मे उसकी विसयोजना का प्रसग नहीं आ सकता, क्योकि विशिष्ट सम्यक्त्व रूप परिणामो के द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायो की विसंयोजना स्वीकार की गई है[312]। यह कहा गया है कि अनन्तानुबन्धी कषाय की सम्यक्त्व होने पर दो अवस्थाएँ होती हैं– या तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजन होता है। तथा जो तीन करण द्वारा अनन्तानुबन्धी के परमाणुओ को अन्य चारित्रमोह की प्रकृति रूप परिणमित करके उन की सत्ता का नाश करे, उसका नाम विसयोजन है[313]। अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन होने पर ही द्वितीयोपशम सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व की

---

३१० कसायपाहुड (पयडिविहत्ति), भाग २, पृ० २१६

३११ वही, पृ० २१८ (पूरा पृष्ठ)

३१२ धवला पु० १२, (४, २, ७, १७८), पृ० ८२

३१३ प टोडरमलः मोक्षमार्गप्रकाशक, अ० ६, पृ० ३३६

प्राप्ति हो सकती है। यहाँ यह विशेष है कि उपशम तथा क्षयोपशम सम्यक्त्वी के अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन से सत्ता का नाश हुआ था, वह फिर मिथ्यात्व मे आए तो अनन्तानुबन्धी का बन्ध करे। वहाँ फिर उस की सत्ता का सद्भाव होता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व में नहीं आता है, इसलिये उसके अनन्तानुबन्धी की सत्ता कदाचित् नहीं होती[३१४]। जिस प्रकार दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय मे सक्रान्त नहीं होती, वैसे ही सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनमोहनीय का सक्रामक नहीं होता। आचार्य वीरसेन स्वामी स्वय प्रश्न करते हुए कहते है कि मिथ्यात्व का सक्रामक कौन होता है? उत्तर है कि उस का सक्रामक वह सम्यग्दृष्टि होता है, जिसके मिथ्यात्व का सत्कर्म आवलि के बाहर होता है[३१५]। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनिवृतिकरण मे अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्थिति सत्त्व की उत्तरोत्तर हानि होते हुए अन्त मे उच्छिष्टावलिप्रमाण स्थिति रह जाती है। इतना विशेष है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अन्तर–करण नहीं होता है[३१६]।

जिनागम मे उपलब्ध विभिन्न प्ररूपणाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाला सम्यग्दृष्टि ही होता है। कहा भी है कि अनन्तानुबन्धी कषायो का जघन्य प्रदेशसक्रमण किस के होता है? जो जीव एकेन्द्रियो के योग्य जघन्य सत्कर्म के साथ त्रसो मे आया। वहॉ पर सयम और सयमासयम को बहुत बार प्राप्त कर और चार बार कषायो का उपशमन करके उपशामक काल मे बॅधे हुए समयप्रबद्ध निर्गलित होने तक एकेन्द्रियो मे रहा। तदनन्तर पुन त्रसो मे आया और सम्यक्त्व को प्राप्त कर अनन्तानुबन्धी की विसयोजना की[३१७]। पुन मिथ्यात्व को प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त तक अनन्तानुबन्धी की

---

३१४ वही, पृ० ३३६

३१५ "मिच्छत्तस्स सकामओ को होदि? सम्माइट्ठी जस्स आवलियबाहिर मिच्छत्तस्स सतकम्मत्थि।" धवला पु० १६, (षट्खण्डागम संतकम्म), पृ० ३४१

३१६ लब्धिसार, गा० ११६ की टीका तथा विशेष, पृ० ६३ से उद्धृत

३१७ कसायपाहुडसुत्त (५ सक्रम अर्थाधिकार), पृ० ४०७

सयोजना कर पुनः सम्यक्त्वी हो कर ६६ सागरोपम काल के अनन्तर अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाले जीव के अधःप्रवृत्त करण के चरम समय में अनन्तानुबन्धी कषायों का जघन्य प्रदेश–सक्रमण होता है[३१८]।

अनन्तानुबन्धी का बन्ध किस से?

प्रथम गुणस्थान को प्राप्त होते ही विसयोजक के आवलि–काल में अनन्तानुबन्धी का बन्ध भी है और उदयाभाव भी निश्चित रूप से है। ऐसी स्थिति मे मिथ्यात्व का उदय ही अनन्तानुबन्धी के बन्ध का कारण है। आचार्य वीरसेनस्वामी कहते हैं कि जिस सम्यग्दृष्टि ने अनन्तानुबन्धी को निःसत्त्व कर दिया है, वह जब मिथ्यात्व या सासादन सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, तब मिथ्यात्व या सासादन के प्रथम समय मे ही अनन्तानुबन्धी चतुष्क का स्थितिसत्त्व पाया जाता है। असत्‌रूप अनन्तानुबन्धी चतुष्क की मिथ्यात्व मे उत्पत्ति कैसे हो जाती है? नहीं, क्योकि **मिथ्यात्व के उदय से कार्मणवर्गणा-स्कन्धों के अनन्तानुबन्धी चतुष्क रूप से परिणमन करने में कोई विरोध नहीं आता है**[३१९]। यह निश्चित है कि मिथ्यात्व के कारण ही अनन्तानुबन्धी को सत्त्व प्राप्त होता है। इसलिये मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति वाले के अनन्तानुबन्धी चतुष्क का सत्त्व नहीं होता और यही कारण है कि दर्शनमोहनीय की क्षपणा के समय मिथ्यात्व की जघन्य स्थिति होती है तथा अनन्तानुबन्धी की इस से पूर्व विसयोजना हो जाती है। इसी प्रकार सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति वाले के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क की सत्ता नहीं होती। फिर, मिथ्यात्व के स्थिति–सत्कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

---

३१८. कसायपाहुड (गा० ५८, अनुच्छेद ५२), पृ० ४०८

*३१९ "अणताणुबंधी चउक्क णिस्सतीकयपम्माइट्ठिणा मिच्छत्ते सासणसम्मत्ते वा पडिवण्णे तस्स पढमसमए चेव अणताणुबधी चउक्कस्स ट्ठिदिसतुप्पत्तीदो। कुदो असतस्स अणताणुबधी चउक्कस्स उप्पत्ती? ण, **मिच्छत्तोदएण कम्मइयवग्गणक्खंधणमणंतरणुबंधी चउक्कसरूवेण परिणमणं पडि विरोहाभावादो।**" कसायपाहुड, भा० ४ (ट्ठिदिविहत्ति), पृ० २४ से उद्धृत*

सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर से ले कर एकेन्द्रिय के योग्य जघन्य स्थिति सत्कर्म तक निरन्तर है और अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्थितिसत्कर्मस्थान से मिथ्यात्व के स्थितिसत्कर्म स्थान विशेष अधिक हैं[320]।

आ० वीरसेन स्वामी के सामने भी यह प्रश्न रहा है कि अनन्तानुबन्धी का बन्धक कौन है? क्या मिथ्यादृष्टि बन्धक है या सासादन सम्यग्दृष्टि बन्धक है अथवा सम्यक्मिथ्यादृष्टि बन्धक है? इस देशामर्षक सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग सज्ञा वाले चार मूल प्रत्ययो से, पचपन उत्तर प्रत्ययों से तथा एक समय मे सम्भव होने वाले दश और अठारह जघन्य व उत्कृष्ट प्रत्ययो से इन प्रकृतियो को बॉधते हैं[321]। उक्त सूत्र ७ मे उल्लिखित २५ प्रकृतियॉ हैं– निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद, तिर्यगायु, तिर्यग्गति, चार सस्थान, चार सहनन, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और नीच गोत्र।

यह सुनिश्चित है कि सासादन गुणस्थान वाला जीव मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है[322]। आचार्य अकलकदेव के अनुसार मिथ्यादर्शन के उदय का अभाव होने पर भी जिन का आत्मा अनन्तानुबन्धी के उदय से कलुषित हो रहा है, वह सासादन सम्यग्दृष्टि है[323]। सासादन मे पॉच मिथ्यात्व न होने से पचास प्रत्यय हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान मे बन्ध के चारो मूल प्रत्यय हैं, किन्तु सासादन मे मिथ्यात्व

---

३२०. कसायपाहुड भा० ४ (द्विदिविहत्ति ३), पृ० ३१६–३३३

३२१. "मिच्छादिट्ठी मिच्छत्तासजम–कसाय–जोगसण्णिदचदुहि मूलपच्चएहि पणवण्णुत्तरपच्चएहि दस–अट्ठारसएगसमयसभविजहण्णुक्कस्सपच्चएहि य एदाओ पयडीओ बधदि।" धवला पु० ८, (३, ८), शास्त्राकार पृ० १७

३२२ धवला पु० १, (१, १, १०), पृ० १६३

३२३. "तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्त अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। "तत्त्वार्थ–राजवार्तिक, अ ६, सू १, पृ० ५८८

के बिना बन्ध के मूल तीन प्रत्यय हैं[324]। दूसरे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान का उदय होने पर भी मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता। कहा भी है कि मिथ्यादृष्टि आदि पाँच गुणस्थानों में जो मूल तथा उत्तर प्रत्यय कहे गए हैं, उन प्रत्ययों से सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ बँधती हैं। इसलिये उन–उन गुणस्थानों में उन–उन प्रत्ययों को ही कहना चाहिए, क्योंकि बन्ध प्रत्ययसमूह का कार्य है[325]।

अनन्तानुबन्धि–चतुष्क का निरन्तर बन्ध होता है, क्योंकि वह ध्रुवबन्धी है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में तो उस का चारों प्रकार का बन्ध होता है। सासादन गुणस्थान में दो प्रकार का बन्ध होता है, क्योंकि वहाँ अनादि और ध्रुवबन्ध का अभाव है[326]। यह तो पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व को तो बाँध ही नहीं सकती है, क्योंकि नि सत्त्व तथा उदयाभावी है और यह भी सहज सिद्ध हो जाता है कि अप्रत्याख्यान से मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के बन्ध के स्वामी चारो गतियों के मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि हैं। यही नहीं, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क को मिथ्यादृष्टि चार गतियों से सयुक्त, सासादनसम्यग्दृष्टि नरकगति के बिना तीन गतियों से सयुक्त और शेष दोनो गुणस्थानवर्ती जीव देव तथा मनुष्य गति से संयुक्त बाँधते हैं[327]।

---

३२४ चदुपच्चइगो बधो पढमे अणतरतिगे तिपच्चइगो।
मिस्सगविदियं उवरिमदुग च देसेक्कदेसम्मि।। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ७८७ तथा धवला पु० ८, (३, ४४), शास्त्राकार, पृ० ४८ एव पृ० १२

३२५ मिच्छादिट्ठिआदिपचगुणट्ठाणेसु जे पच्चया परूविदा मूलुत्तरभेएण तेहि पच्चएहि एदाओ बज्झति त्ति तेसु तेसु गुणट्ठाणेसु ते ते चेव पच्चया वत्तव्वा, बधस्स पच्चयसमूहकज्जत्तादो।" धवला पु० ८, (३, २०), शास्त्राकार, पृ० २५

३२६. वही, पृ० ६१

३२७. "अपच्चक्खाणचउक्कं मिच्छाइट्ठी चउगइसजुत्त, सासणो णिरयगईए विणा तिगइसंजुत्तं, सेसा दो वि देव–मणुसगइसजुत्त बधंति।" वही, पृ०२४

वास्तव में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क के बन्ध के स्वामी चारो गतियो के मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि हैं[328]। इन प्रकरणो के स्पष्ट निर्देश से इतना तो निश्चित है कि तीसरे गुणस्थान से गिर कर कोई जीव यदि प्रथम गुणस्थान मे आता है, तो मिथ्यात्व के उदय मे आते ही चारित्रमोहनीय की प्रकृति अनन्तानुबन्धी रूप परिणमित हो जाती है और चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाला अट्ठाईस प्रकृतियो की सत्ता वाला हो जाता है[329]। आचार्य वीरसेन स्वामी इसे इस रूप मे प्रस्तुत करते हैं[330]–

शका– सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजना नहीं करता है, यह कैसे जाना जाता है? समाधान– आगे कहे जाने वाले चूर्णिसूत्र से जाना जाता है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजना नहीं करता है।

शका– यदि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसयोजना नहीं करता है, तो वह चौबीस प्रकृतिक स्थान का स्वामी कैसे हो सकता है?

समाधान– नहीं, क्योंकि चौबीस कर्मों की सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि जीवो के सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होने पर उन के भी चौबीस प्रकृतियो की सत्ता बन जाती है।

---

३२८ "अपच्चक्खाणचउक्कबधस्स चउगरमिच्छाइट्ठि– सासणसम्मादिट्ठि– सम्मामिच्छाइट्ठि–असजदसमादिट्ठी सामी।" धवला पु॰ ८, (३, १८), शास्त्राकार, पृ० २४

३२९ "मिच्छत्तं पडिवण्णपढमसमए चेव चारित्तमोहकम्मक्खधेसु अणताणुबधिसरूवेण परिणदेसु अट्ठावीसपयडिसतुप्पत्तीदो।" कसायपाहुड, भा० २ (पयडिविहत्ति), पृ० २१८

३३० "सम्मामिच्छाइट्ठी अणताणुबधिचउक्क ण विसजोएदि त्ति कुदो णव्वदे? उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो। अविसजोएते सम्मामिच्छाइट्ठी कथं चउवीसविहत्तिओ? ण, चउवीससतकम्मिय सम्मादिट्ठीसु सम्मामिच्छत्तं पडिवण्णेसु तत्थ चउवीसपयडिपरिणमइ? ण, तत्थ तप्परिणमणहेदु– मिच्छत्तुदयाभावादो, सासणे इव तिव्वसंकिलेसाभावादो वा।" वही, पृ० २१९ से उद्धृत

शंका– सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव चारित्रमोहनीय को अनन्तानुबन्धी रूप से क्यो नहीं परिणमा लेता है?
समाधान–नहीं, क्योकि यहाँ पर चारित्रमोहनीय को अनन्तानुबन्धी रूप से परिणमाने का कारणभूत मिथ्यात्व का उदय नहीं पाया जाता है अथवा सासादन गुणस्थान की भॉति तीव्र संक्लेश परिणामो का अभाव होने से जीव चारित्रमोह को अनन्तानुबन्धी रूप से नहीं परिणमाता है।

यहाँ पर दो बाते स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथम तो यह कि सम्यग्दृष्टि भी यदि मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है, तो मिथ्यात्व के उदय के साथ ही वह अट्ठाईस प्रकृतियो की सत्ता वाला हो जाता है। दूसरे, यह कि जहॉ मिथ्यात्व का उदय नहीं है, वहाँ पर चारित्रमोहनीय अनन्तानुबन्धी रूप परिणमित नहीं होती। इससे यह भी सकेत मिलता है कि जब मिथ्यात्व के उदित होने पर चारित्रमोहनीय का अनन्तानुबन्धी रूप परिणमन या सक्रमण हो जाता है, तब वह एक प्रकार का बन्ध ही है। अत इस स्थिति मे तो मिथ्यात्व से अनन्तानुबन्धी का बन्ध मानना चाहिए। इस सम्बन्ध मे प. जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री का निष्कर्ष पूर्ण रूप से ध्यान देने योग्य है। उनके ही शब्दो मे "मिथ्यात्व गुणस्थान मे ऊपर से गिरते समय एक आवलि काल तक अनन्तानुबन्धी की सयोजना करने के काम मे जघन्य युक्त ७ सख्यातप्रमाण असख्यात समयो तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध होता रहता है, साथ ही अनन्तानुबन्धी का भी बन्ध होता रहता है, पर उसका उदय नहीं होता। यहॉ ईषत अनुदय का सवाल ही नहीं उठता, क्योकि बन्धावलि–काल है। जो ऐसा नहीं मानते, वे बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल करते हैं। कषाय और योग हेतुक बन्ध उस आवलि–काल में होता है, जबकि सासादन गुणस्थान में ६ आवलि–काल तक अनन्तानुबन्धी उदित रहती है। वहाँ एक समय के लिए भी वह मिथ्यात्व को नहीं बाँध सकती। सारत जहाँ मिथ्यात्व रूप आधार है, वहॉ अनन्तानुबन्धी का बन्ध निश्चित होता है, पर जहॉ सासादन में अनन्तानुबन्धी है, वहाँ पर मिथ्यात्व के बन्ध का नियम नहीं बनाया जा सकता।"[331]

---

331 अकिंचित्कर · एक अनुशीलन, पृ० ८८ से उद्धृत

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्व का बन्ध मिथ्यात्व के उदय से ही होता है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय मिथ्यात्व के बन्ध में प्रयोजक नहीं है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क स्व–परोदयी प्रकृति है। इसलिये वह मिथ्यात्व के उदय से भी बँधती है और स्वय के उदय होने से भी बॅधती है, क्योकि वह अध्रुवोदयी है[332]।

भावलेश्या: मिथ्यात्व

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि किसी अपेक्षा से जीव और कर्म के सश्लेष सम्बन्ध को लेश्या कहते हैं। मिथ्यात्व भी लेश्या है[333]। जो कर्मों से लिप्त करती है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या का कार्य जीव और कर्म का सश्लेष सम्बन्ध कराना है। अत· जीव और कर्म का सश्लेष कराने वाले भाव का नामलेश्या है। लेश्या का निक्षेप चार प्रकार से किया जाता है– नामलेश्या, स्थापनालेश्या, द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। 'लेश्या' यह शब्द नाम लेश्या कहा जाता है। सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना रूप से जो लेश्या की स्थापना की जाती है, वह स्थापनालेश्या है। द्रव्यलेश्या दो प्रकारकी है– आगमद्रव्यलेश्या और नोआगम द्रव्यलेश्या। भावलेश्या भी दो प्रकार की है–आगमभावलेश्या और नोआगमभावलेश्या। कर्मपुद्गलो के ग्रहण में कारणभूत जो मिथ्यात्व, असयम और कषाय से अनुरजित योगप्रवृत्ति होती है, उसे नोआगम भावलेश्या कहते हैं। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असयम और कषाय से उत्पन्न सस्कार का नाम नोआगमभावलेश्या है। यहाँ नैगमनय के कथन की अपेक्षा नोआगमद्रव्यलेश्या और भावलेश्या प्रकृत हैं[334]।

---

३३२ "अणताणुबधिचउक्कस्स सोदय–परोदएण बधो, अद्धुवोदयत्तादो। थीणगिद्धितिय–अणताणुबधिचउक्काण मिच्छाइट्ठिम्हि चउव्विहा बधो, धुवबधित्तादो।" धवला पु० ८, (३, ५८), शास्त्राकार, पृ० ५५

३३३ धवला, पु० ८, पृ० ३५६

३३४ "णोआगमभावलेस्सा मिच्छत्तासजम–कसायजणिदससकारो त्ति वुत्त होदि। एत्थ णेगमणयवत्तव्वएण णोआगमदव्व–भावलेस्साए पयद।" धवला पु० १६, पृ० ४८५, ४८८

इससे यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व भावलेश्या है और लेश्या होने से निश्चित है कि वह कर्मलेप करने मे प्रकृष्ट हेतु है। और यही कारण है कि भगवद्गुणधराचार्य स्पष्ट रूपसे मिथ्यात्व के निमित्त से मिथ्यात्व का और ज्ञानावरणादि कर्मो का बन्ध मानते हैं। प हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री के शब्दो में "दर्शनमोह के उपशम करने वाले जीव के अन्तर से पूर्ववर्ती प्रथम स्थिति के अन्तिम समय तक मिथ्यात्व निमित्तक बन्ध होता है, क्योंकि यहाँ तक वह मिथ्यादृष्टि है और उसके मिथ्यात्व का तथा मिथ्यात्व के निमित्त से बँधने वाले अन्य कर्मो का बन्ध होता रहता है।"[335] यथार्थ मे परिणामो का चचल होना कषाय है और प्रदेशों का चचल होना योग है। यही इन दोनों मे अन्तर है।

आचार्य वीरसेन स्वामी ने बन्ध का कारण होने से ही मिथ्यात्व को लेश्या मे गिनाया है। उन्होने स्वय प्रश्न उठाते हुए कहा है– बन्ध के कारणो को ही लेश्याभाव कहा जाता है, तो प्रमाद को भी लेश्याभाव क्यो न मान लिया जाए? समाधान है कि नहीं, क्योकि प्रमाद का तो कषायो मे ही अन्तर्भाव हो जाता है। फिर, प्रश्न है कि असयम को भी लेश्या क्यो नहीं मानते? समाधान है कि नहीं, क्योंकि असयम का भी लेश्याकर्म मे अन्तर्भाव हो जाता है। तब फिर प्रश्न है कि मिथ्यात्व को लेश्याभाव क्यो नहीं मानते? समाधान है कि मिथ्यात्व को लेश्याभाव कह सकते हैं, क्योंकि उस मे कोई विरोध नहीं आता[336]।

'संक्लेश' शब्द का अर्थ-

सातावेदनीय के बन्ध मे कारणभूत परिणाम को 'विशुद्धि' तथा असातावेदनीय के बन्ध मे कारणभूत परिणाम को 'सक्लेश' कहा जाता

---

३३५ प० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री (स०) · कसायपाहुडसुत्त पृ० ६३३, ६३४

३३६. "जदि बधकारणाण लेस्सत्त उच्चदि तो पमादस्स वि लेस्सत्त किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स कसाएसु अंतब्भावादो। असंजमस्स किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स वि लेस्सायम्मे अंतब्भावादो। मिच्छत्तस्स किण्ण इच्छिज्जदि। होदु तस्स लेस्साववएसो, विरोहाभावादो।" धवला पु० ७, पृ० १०५

है। प्रायः मरण काल मे जीव के उत्कृष्ट सक्लेश होता है। जागृत तथा साकारोपयोग की दशा में ही उत्कृष्ट संक्लेश या विशुद्धि सम्भव है। *(दे० जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा० ३, पृ० ५६८)*

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं– असाता के बधयोग्य परिणाम को सक्लेश तथा साता के बधयोग्य परिणाम को विशुद्धि कहते हैं। यहाँ पर शकाकार ने जो भाव प्रकट किया है कि उत्कृष्ट स्थिति से ले कर नीचे की स्थितियों का बन्ध करने वाले परिणामो को विशुद्धि कहते हैं और जघन्य स्थिति से ले कर आगे की स्थितियो का बन्ध करने वाले परिणामो को सक्लेश कहते है। उस का समाधान करते हुए जो धवला टीका मे बतलाया गया है कि इस तरह जो जघन्य स्थितिसम्बन्धी परिणाम और उत्कृष्ट स्थिति सम्बन्धी परिणाम को छोड कर शेष सब मध्य के परिणाम एक तरफ से सक्लेश सज्ञा को प्राप्त हो जायेगे और दूसरी तरफ से उन्हीं की विशुद्धि सज्ञा हो जाएगी सो उचित प्रतीत नहीं होता। अतएव कषाय की वृद्धि और हानि को सक्लेश और विशुद्धि का लक्षण नहीं समझना चाहिए। किन्तु इन दोनों का लक्षण स्वतन्त्र है और वह यह है कि जो सातावेदनीय आदि परावर्तमान प्रकृतियो के बन्ध का हेतु हो, वह सक्लेश है। इसीलिये यह कहा है– "ण च कसायवड्ढी सकिलेसलक्खण" अर्थात्–कषाय की वृद्धि सक्लेश का लक्षण नहीं है। *(धवला, पु० ६, पृ० १८१ से उद्धृत)*

आचार्य विद्यानन्दि का कथन है कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पॉच बन्ध के हेतु है। ये ही सक्लेश परिणाम कहलाते हैं, क्योकि आर्त, रौद्र ध्यान रूप परिणाम होने मे ये सक्लेश के हेतु कहे गए हैं।

'कषाय' में मिथ्यात्व गर्भित है– जिनागम मे यथास्थान विभिन्न विवक्षाओं के अनुसार प्रतिपादन किया गया है। सामान्यत 'मोह' मे दर्शनमोह तथा चारित्रमोह सम्मिलित हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन स्पष्ट है कि जो अध्यवसान के उदय हैं, वे कितने ही ससार सम्बन्धी हैं और कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं। उन में से जितने ससार सम्बन्धी हैं, उतने बन्ध के निमित्त हैं और जितने शरीर सम्बन्धी हैं, उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बन्ध के निमित्त हैं, उतने तो राग–द्वेष–मोहादिक हैं और जितने

उपभोग के निमित्त हैं, उतने सुख–दुःखादिक हैं। (समयसार, गा० २१७ एव आत्मख्याति टीका) यहाँ पर बन्ध के प्रसंग में राग–द्वेष के साथ मोह का भी उल्लेख किया गया है। इस का कारण यही है कि 'मोह' की भूमिका त्रयात्मक है। आ० अमृतचन्द्र के शब्दों में "अतो मोहरागद्वेष–भेदात्त्रिभूमिको मोहः" (प्रवचनसार, गा० ८३ की तत्त्वप्रदीपिका टीका)

जिनागम मे बन्ध के प्रकरण मे अनेक स्थलो पर राग–द्वेष के साथ मिथ्यात्व का भी उल्लेख किया गया है। आचार्य जयसेन के शब्दों मे "यथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिका घट रूपेण परिणमति तथा जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतु लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्य कर्मत्वेन परिणमति।" (समयसार, गा० ८० (८६) तात्पर्य वृत्ति)। अर्थात्– जैसे कुम्हार के निमित्त से मिट्टी घडे के रूप मे परिणमन करती है, उसी प्रकार जीव सम्बन्धी मिथ्यात्व व रागादि परिणामों का निमित्त पा कर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य भी कर्म रूप मे परिणमन करता है। अत निम्न–लिखित तथ्य विचारणीय हैं।

(१) सब से उत्कृष्ट उदीरणा मिथ्यादर्शन की होती है। अनन्तानुबन्धी की उदीरणा मिथ्यात्व से अनन्तगुनी हीन होती है। (कसायपाहुडसुत्त, पृ० ५१२)

(२) मिथ्यात्व की जघन्य उदीरणा भी अनन्तानुबन्धी की उत्कृष्ट स्थिति से अनन्तगुनी होती है। (कसायपाहुडसुत्त, पृ० ५१२)

(३) "कसायपाहुडसुत्त" की रचना करते हुए आचार्य गुणधर ने दर्शनमोहनीय को "कषाय" मे गर्भित कर सम्यक्त्व– अर्थाधिकार की रचना की है। "पेज्ज वा दोस वा" तथा "पयडीए मोहणिज्जा" कह कर उनका उल्लेख किया है। यदि वे मिथ्यात्व को 'कषाय' मे गर्भित न करते, तो मिथ्यात्व की उपशमना आदि कषाय मे नहीं बन सकती थीं। उन्होने "कसायपाहुड" नाम दे कर 'कषाय' में दर्शनमोहनीय को गर्भित कर ही कहा है, अन्यथा 'मोहनीयपाहुड' नाम देते। (द्रष्टव्य है, कसायपाहुडसुत्त, पृ० ६१४–६३८)

(४) 'कसाय' इस पद की विभाषा इस प्रकार है– चारो कषायो मे से किसी एक कषाय से उपयुक्त जीव दर्शनमोह के उपशम का प्रारम्भ करता है। (वहीं, पृ० ६१६)

(५) आचार्य वीरसेन स्वामी ने कषाय प्रत्यय की प्ररूपणा मे 'मिथ्यात्व' को भी सम्मिलित किया है। उन के ही शब्दों मे – "कोह–माण–माया–लोभ–राग–दोस–मोह–पेम्म–णिदाण–अब्भक्खाण–कलह–पेसुण्ण–रदि–अरदि–उवहि– णियदि– माण– माया– मोसेहिं कसायपच्चओ परूविदो। मिच्छणाण–मिच्छदसणेहि मिच्छत्तपच्चओ णिद्दिट्ठो। पओएण जोगपच्चओं परूविदो।" (धवला, पु० १२, पृ० २८६) अर्थात्– क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य (चुगली), रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया और मोष (चोरी) इन से कषायप्रत्यय की प्ररूपणा की गई है। मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन प्रयोग से योगप्रत्यय की प्ररूपणा की गई है।

(६) यदि 'कषाय' मे मिथ्यात्व गर्भित न होता, तो आ० वीरसेन स्वामी ऐसी प्ररूपणा न करते कि केवलज्ञानावरणीय, केवलदर्शनावरणीय, असातावेदनीय और वीर्यान्तराय–इन चारो की प्रकृतियॉ समान हैं अर्थात् मिथ्यात्व से अनन्तवे भाग हीन अनुभाग से युक्त हैं। (धवला, पु० १२, पृ० ११७)

(७) आगम मे जहॉ "भावनिमित्तो बन्धो" कहा गया है, वहॉ 'भाव' का अर्थ राग, द्वेष, मोह है। रागादि भावप्रत्यय हैं। सामान्यत 'भाव' का अर्थ 'कषाय' है। यदि 'भाव' का अर्थ 'कषाय' न माना जाए, तो 'पचास्तिकाय' गा० १२५ से १५७ तक का कथन व्यर्थ सिद्ध होगा। आ० अमृतचन्द्र का कथन अत्यन्त स्पष्ट है– "तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्ध शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्ध।" (पचास्ति० गा० १४७ टीका)

आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि इन मे से प्रत्येक मे 'प्रत्यय' शब्द को जोडना चाहिए– क्रोधप्रत्यय, मानप्रत्यय, मायाप्रत्यय, लोभप्रत्यय, रागप्रत्यय, द्वेषप्रत्यय, **मोहप्रत्यय** और प्रेमप्रत्यय इनके द्वारा ज्ञानावरणीय की वेदना उत्पन्न होती है। (धवला, पु० १२, पृ० २८४) बहुत स्पष्ट शब्दो में कहा गया है–"सपहि कसायपच्चयपरूवणट्ठमुत्तरसुत्त भणदि। एव कोह– माण–माया–लोह–राग–दोस–मोह–पेमपच्चए।" (४, २, ८, ८) क्रोध– मान–माया–लोभ–हास्य–रत्यरति–शोक–भय–जुगुप्सा–स्त्री–पु– नपुसकवेद–मिथ्यात्वाना समूहो मोह।" (धवला, पु० १२, पृ० २८३) अर्थात् अब कषाय प्रत्यय की प्ररूपणा के लिए आगे का

सूत्र कहा जाता है— इसी प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययों से ज्ञानावरणीय वेदना होती है। (माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है। क्रोध, मान, अरति, शोक, जुगुप्सा और भय इनको द्वेष कहा जाता है।) क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व इनके समूह का नाम मोह है। इस प्रकार कर्म का बन्ध शुभ व अशुभ परिणामो से होता है और शुद्ध परिणामो से शुभ तथा अशुभ दोनो का निर्मूल क्षय होता है। *(धवला, पु० १२, पृ० २७६)*

भाव क्या है?— यह प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं कि रति, राग, द्वेष, मोह से युक्त मिथ्यात्व, असयम और कषाय भाव हैं। (मूलाचार, गा० ६६८ की टीका) आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे "यो हि द्रव्यगुण–पर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलुमोह" अर्थात् जिस भाव से यह जीव धतूरा खाने वाले पुरुष के समान द्रव्य, गुण, पर्याय को यथार्थ नहीं जानता है और न श्रद्धान करता है, उस भाव को 'मोह' कहते हैं।

(८) भगवन्त पुष्पदन्त–भूतबलि कहते हैं— कषायमार्गणा के अनुवाद से क्रोधकषायी, मानकषायी और लोभकषायी जीवो मे मिथ्यादृष्टि से ले कर सूक्ष्मसाम्पराय उपशामक और क्षपक गुणस्थान तक भाव ओघ के समान हैं। (धवला, पु० ५, पृ० २२३) यहॉ पर स्पष्ट ही 'कषाय' को जीव का गुण कहा गया है। अत उस मे मिथ्यात्व भी गर्भित है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इतना स्पष्ट होने पर भी "कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया" मे यह कहा गया है कि "मिथ्यात्व चारो प्रकार के बन्ध मे कारण नहीं है" (पृ० १८), जबकि आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट शब्दो मे उद्घोष कर चुके हैं— मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।

जायदि विविहो बधो तम्हा ते सखवइदव्वा।। प्रवचन०, गा० ८४

अर्थात्— मोह भाव से अथवा राग भाव से अथवा द्वेष भाव से परिणमते हुए जीव के अनेक प्रकार का कर्मबन्ध होता है। अत. उनका मूल सत्ता से क्षय करने योग्य है।

इसी प्रकार जिनागम में अनेक स्थलो पर मोह, राग, द्वेष से चारों प्रकार का बन्ध कहा गया है, जिसका विवेचन आगे किया जाएगा।

(६) तीर्थंकरो की आसादना रूप तीव्र मिथ्यात्व के बिना तीव्र कषाय नहीं होती है। कहा है– "कितु तिव्वमिच्छत्त अरहत–सिद्ध–बहुसुदाइरियच्चासणा तिव्वकसाओ च उक्कड्डणाकारण।" (धवला, पु० १०, पृ० ४२)

(१०)सिद्धान्त ग्रन्थो मे 'मोहनीय' का स्वभाव सम्यक्त्व और चारित्र का विनाशक (सम्मत्तचारित्तविणासणसणसहाव मोहणिज्ज, कसायपाहुड, पु॰, पृ॰ २१) कहा गया है। प्रो० नन्दलाल जैन के शब्दो में "यदि धवला के अनुसार मिथ्यात्व और कषाय की मोहात्मकता न भी मानी जाए, तो भी पूज्यपाद, विद्यानन्द, वसुनन्दि, जयसेन और भास्करनन्दि ने अनुभाग विशेष नियम की उत्पत्ति हेतु 'कषाय' पद के अन्तर्गत न केवल मिथ्यात्व को ही, अपितु योग को भी समाहित कर दिया है[३३७]।" यथार्थ मे वास्तविकता यह है कि मिथ्यात्व तो मोहक है ही, किन्तु सभी मूल प्रकृतियॉ उदित हो कर स्थितिबन्ध की विशेष कारण बनती हैं। यदि किसी जीव के मिथ्या भाव उत्पन्न न हो, तो मिथ्यात्व की स्थिति और अनुभाग कहॉ से उत्पन्न होगे? जब मिथ्यात्व की स्थिति ही नहीं होगी, तो कषाय का आवेश सहायक किस प्रकार होगा? यही तो कर्मबन्ध की प्रक्रिया है कि मात्र कषायोदयस्थान ही स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान नहीं हैं[३३८]। अत आचार्य वीरसेनस्वामी का स्पष्ट अभिमत है कि मिथ्यात्व भी स्थिति अनुभाग का विशेष प्रत्यय है।

इस प्रकार उक्त दश प्रमाणो के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि कषाय मे 'मिथ्यात्व' गर्भित है।

"अकिंचित्कर" शब्द का प्रयोग-

साधारण रूप से बोलचाल की भाषा मे 'अकिचन' शब्द का प्रयोग होता है, जिसका अर्थ है– कुछ नहीं, तुच्छ, जिसके पास कुछ नहीं है, नितान्त निर्धन। यह एक विशेषण है। इसी प्रकार 'अकिचित्कर' शब्द भी विशेषण है जो विभिन्न अर्थो का वाचक है–परतन्त्र, असमर्थ, अर्थहीन, कुछ भी नहीं करने वाला। यथार्थ मे अप्रयोजक तथा असमर्थ को

---

३३७ प्रो० नन्दलाल जैन कर्म और कर्मबन्ध, शीर्षक प्रकाशित लेख, तुलसी–प्रज्ञा, खण्ड २०, अक १–२, पृ० १६ से उद्धृत

३३८ द्रष्टव्य है– धवला पु० ११, पृ० ३१०

अकिंचित्कर कहा जाता है। जो कुछ भी नहीं करता है, वह 'अकिंचित्कर' है– इस अर्थावधारणा के अनुसार 'मिथ्यात्व' या 'कषाय' को अकिंचित्कर कहते हैं, लेकिन उक्त आगम प्रमाणों से सिद्ध है कि कषाय की भाँति मिथ्यात्व भी स्थिति–अनुभागबन्ध का कारण है। अतः इसे 'अकिंचित्कर' कहना उचित नहीं है। जब द्रव्यतः यह वस्तु–व्यवस्था है कि दर्शनमोहनीय कर्मप्रकृति चारित्रमोहनीय का कार्य नहीं कर सकती और चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय प्रकृति का कार्य नहीं कर सकती, तो फिर यही स्वीकार करना चाहिए कि दोनो स्वतन्त्र हैं। क्योंकि आत्मा को सुख रूप परिणमन कराने में सभी अकिंचित्कर हैं। कहा है– "अकिंचित्करास्ते तत्र साक्षात् आत्मनः एव सुखरूपेण विपरिवर्तनात्। "प्रवचन., गा. ६७, सरोजभास्कर टीका।

जहाँ पर दो प्रकृतियो की भिन्नता है और उनके कार्य भिन्न–भिन्न हैं, तो उस से यह निश्चित है कि कोई भी कर्म तथा उसकी प्रकृति अन्य कर्मप्रकृति का कार्य करने में अकिंचित्कर है। इस प्रकार मिथ्यात्व कषाय का कार्य करने मे 'अकिंचित्कर' है– ऐसा अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं है। क्योकि यथार्थ मे प्रत्येक प्रकृति अपने उपादान से ही कार्य करती है, राग–द्वेष–मोह तो निमित्त हैं। जिनागम में अधिकतर कथन निमित्त की अपेक्षा किए गए हैं। यदि कारण नहीं कहा जाएगा, तो समझ मे क्या आएगा? निमित्त के काल मे नैमित्तिक अपना काम करता है, यह स्पष्ट अवधारणा है। अतः सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय की अपेक्षा, वस्तुस्वभाव या नियत स्वभाव की अपेक्षा न तो जीव का स्वभाव कभी बदल सकता है और न कर्म–प्रकृति अपना स्वभाव छोड़ सकती है। यथार्थ मे प्रत्येक द्रव्य पर (अन्य द्रव्य–स्वभाब) मे अकिंचित्कर है। (दे. समयसार, गा. २६७ की आत्मख्यातिटीका) फिर, मिथ्यात्व या कषाय कोई द्रव्य नहीं है।

क्या मिथ्यात्व उत्कृष्ट स्थितिबन्धकारक नहीं है?

आदरणीय पण्डित जगन्मोहनलालजी सिद्धान्तशास्त्री की पुस्तक "कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया" एक मात्र इस आगम प्रमाण के आधार पर उपस्थापित की गई है कि मिथ्यात्व स्वयं अपने बन्ध का कर्ता नहीं है। उन्हीं के ही शब्दों में "मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति के

स्वामी विषयक प्रश्न करने का आशय उत्कृष्ट स्थिति डालने मे स्वय मिथ्यात्व के कर्तापने का निषेध करना है।" *(द्वितीय संस्करण, पृ० ५३)*

कसायपाहुड भाग ३ ठिदिबधविहत्ती में उल्लिखित चूर्णिसूत्र की टीका इस प्रसग में विस्तार से विवेचनीय है। प्रकरण है– एक जीव की अपेक्षा स्वामित्वानुगम का। चूर्णिसूत्र है–

मिच्छत्तस्स उक्कस्सट्ठिदिविहत्ती कस्स? उक्कस्सस्सट्ठिदि बंधमाणस्स। मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति किस के होती है? उत्कृष्ट स्थिति को बाँधने वाले जीव के होती है।

४०६, एदस्स जइवसहाइरियमुहकमलविणिग्गयस्स सामित्तसुत्तस्स अत्थपरूवण कस्सामो। त जहा, मिच्छत्तस्से त्ति णिद्देसो सेसपयडि–पडिसेहफलो। उक्कस्सट्ठिदिविहत्तिणिद्देसो सेसट्ठिदिविह– त्तिपडिसेहफलो। कस्से त्ति पुच्छा सयस्स कत्तारत्तपडिसेहफला। उक्कस्सट्ठिदि बधमाणस्से त्ति वयण अणुक्कस्सट्ठिदिबधेण सह उक्कस्सट्ठिदिसतपडिसेहफल।

अर्थ– अब यतिवृषभ आचार्य के मुख से निकले हुए इस स्वामित्वसूत्र के अर्थ का कथन करते है जो इस प्रकार है–सूत्र मे 'मिथ्यात्व' पद के देने का फल शेष प्रकृतियो का निषेध करना है। 'उत्कृष्टस्थितिविभक्ति' पद देने का फल शेष स्थितिविभक्तियो का निषेध करना है। 'किसके होती है'–इस प्रकार पृच्छा का आशय स्वकर्तृत्व का प्रतिषेध करना है। 'उत्कृष्ट स्थिति को बॉधने वाले जीव के' इस वचन के देने का फल अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध के साथ उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व का प्रतिषेध करना है।

मूल चूर्णिसूत्र को चार पदो मे विभक्त कर कहा गया है। पद–विभाग इस प्रकार है– १ मिच्छत्तस्स, २ उक्कस्सट्ठिदिविहत्ती, ३ कस्स, ४ उक्करस्सट्ठिदि बधमाणस्स। सूत्र मे 'मिच्छत्तस्स' पद क्यो सन्निहित किया गया है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि मिथ्यात्वमोहनीय या दर्शनमोहनीय का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध शेष अन्य कर्म–प्रकृतियाँ नहीं कर सकती हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दो में "सपहि मिच्छत्तपच्चएणेव दसणमोहणीयस्स बधो होइ, तेण विणा सेसपच्चएहिं तब्बधो णत्थि त्ति जाणावणट्ठमुत्तरगाहासुत्तावयारो–

(४६) सम्मामिच्छाइट्ठी दंसणमोहस्स अबंधगो होइ।
वेदयसम्माइट्ठी खीणो वि अबंधगो होइ।।१०२।।

२०३ मिच्छाइट्ठी चेव दंसणमोहणीयस्स मिच्छत्तपच्चएण बंधगो होइ, णाण्णो।...अधवा जहा मिच्छाइट्ठी मिच्छत्तोदएण मिच्छत्तस्सेव बंधगो होदि त्ति भणिदो।

अर्थात्– अब दर्शनमोहनीय का बन्ध मिथ्यात्व के निमित्त से ही होता है, उस के बिना शेष कारणों से दर्शनमोहनीय का बन्ध नहीं होता–इस बात का ज्ञान कराने के लिए आगे के गाथासूत्र का अवतार हुआ है–मिथ्यादृष्टि जीव ही दर्शनमोहनीय का मिथ्यात्व के निमित्त से बन्धक होता है, अन्य नहीं, अथवा जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व का बन्ध होता है– ऐसा कहा गया है। (कसायपाहुड, भाग१२, पृ० ३१२, ३१३) 'कसायपाहुड' भा॰ (पृ॰ ३१६) मे चूर्णिसूत्र है–

"मिच्छत्तस्स ट्ठिदिसंतकम्मट्ठाणाणि उक्कस्सियं....." इस की 'जयधवला' टीका मे आचार्य वीरसेन कहते हैं– "मिच्छत्तस्से त्ति वयणेण सेसपयडिपडिसेहो कदो "अर्थात् सूत्र मे 'मिच्छत्तस्स' इस वचन के द्वारा दूसरी प्रकृतियो का निषेध किया है।

इस का तात्पर्य यह है कि जहॉ मिथ्यात्व का उदय नहीं है, वहॉ मिथ्यात्व से मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता है। मूल प्रकरण स्थितिविभक्ति का है। स्थितिविभक्ति के दो भेद किए गए हैं– मूलप्रकृति स्थितिविभक्ति और उत्तर प्रकृतिस्थितिविभक्ति। यद्यपि प्रवाह रूप से मोहनीय कर्म अनादि है, किन्तु यहॉ पर प्रत्येक समय मे जो समयप्रबद्ध प्राप्त होता है, उस की स्थिति ली गई है, अत स्थितिविभक्ति की अवधि बन जाती है। उस मे प्रत्येक भेद की विवक्षा किए बिना सामान्य रूप से मोहनीय की जो स्थिति प्राप्त होती है, वह मूलप्रकृतिस्थितिविभक्ति है और प्रत्येक भेद की जो स्थिति प्राप्त होती है, वह उत्तर प्रकृतिस्थितिविभक्ति है। (कसायपाहुड भा.३, पृ० ५) यहॉं पर गुणस्थान की मुख्यता से कथन होने के कारण यह कहा गया है कि मिथ्यात्व को छोड़ कर अन्य गुणस्थान में मिथ्यात्व का बन्ध नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के सिवाय

अन्य कर्मप्रकृति से मिथ्यात्व का बन्ध नहीं हो सकता।

दूसरा पद है– उक्कस्सट्ठिदिविहत्ती। जो जीव उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के कारणभूत उत्कृष्ट संक्लेश परिणामों से निवृत्त हो गया है, उसे पुनः उन परिणामों को प्राप्त करने में कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल लगता है और इस मध्य के काल मे उस का स्वामी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनुभागबन्ध का भी स्वामी है। (महाबन्ध, भा.४, पृ. १८८) फिर, जिनागम में यह कहीं नहीं लिखा है कि मिथ्यात्व का बन्ध कषाय से होता है। यह भी कहीं उल्लेख नहीं है कि मिथ्यात्व की स्थिति और अनुभागबन्ध कषाय से होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि देशघाति संज्वलन से सर्वघाति प्रत्याख्यानावरण का उदय अनन्तगुना है, उस से अप्रत्याख्यानावरण का अनन्तगुना है, उस से अनन्तानुबन्धी का उदय अनन्तगुना है और उस से अनन्तगुना उदय मिथ्यात्व का है। अत कारण के स्तोक (अल्प) होने पर कार्य की अधिकता सम्भव नहीं है, क्योकि वैसा होने मे विरोध है। (धवला पु० ११, पृ० २३५, २३६) यहाँ पर स्पष्ट निषेध है कि मिथ्यात्व का बन्ध अन्य कर्म–प्रकृति नहीं कर सकती है। वास्तव मे मिथ्यात्व का स्वामी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनुभागबन्ध का भी स्वामी है। (महाबन्ध, भा० ४, पृ० १८८) आचार्य वीरसेनस्वामी कहते हैं कि मिथ्यात्व प्रकृति स्वोदय से बँधती है, जिस का कारण स्वभाव है। *(धवला, पु. ८, पृ.१५३)*

यथार्थ में मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध मिथ्या भाव से करता है। ऐसा ही उस का स्वभाव है। यहाँ पर यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वे कारण कौन से हैं, जिन से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म–प्रकृति बनती है?

प्रश्न यह है कि वे विशेष प्रत्यय कौन हैं? समाधान है– जिनप्रतिमा, जिनालय, संघ, आचार्य और प्रवचन के प्रतिकूल चलना आदि असख्यात लोकप्रमाण विशेष प्रत्यय हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दों में "उक्कस्ससंकिलेसे संते किमट्ठं सव्वकम्माणममक्कमेणुक्कस्सट्ठिदि बंधो ण होदि? ण, सगसगविसेसपच्चएहि विणा उक्कस्ससंकिलेसमेत्तेण

चेव सव्वपयडीणमुक्कस्सट्ठिदिबंधाभावादो।.... कं विसेसपच्चया? जिणपडिमालयसघाइरियपवयणपडिऊलदादओ असंखेज्जलोगमेत्ता।" *(जयधवला, भा० ३, पृ० ४४८)*

यद्यपि आचार्य वीरसेन स्वामी संक्लेश की वृद्धि से सभी प्रकृतियों से सम्बन्धित स्थिति की वृद्धि कहते हैं, किन्तु उनका स्पष्ट मत है कि कषाय की वृद्धि संक्लेश का लक्षण नहीं है। वास्तव में संक्लेश नाम किस का है? असाता के बन्धयोग्य परिणाम को संक्लेश कहते हैं। अत असाता को छोड़ कर अन्य कोई कारण नहीं है। कषायों की वृद्धि केवल असाता के बन्ध का कारण नहीं है, क्योकि कषायों की वृद्धि के काल में साता का बन्ध भी पाया जाता है। (धवला, पु० ६, पृ० १८०–१८२) यही नहीं, उन का यह भी कथन है– "बहुत–बहुत बार सक्लेश को प्राप्त हुआ" इस सूत्र से ही स्थितिबन्ध की अधिकता और उत्कर्षणता की अधिकता सिद्ध है, अत यह सूत्र निरर्थक है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि "यदि कषाय मात्र ही उत्कर्षण का कारण होता, तो यह सूत्र निरर्थक होता। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व व अरहंत, सिद्ध, बहुश्रुत एव आचार्य की आसादना और तीव्र कषाय उत्कर्षण का कारण है। इस कारण यह सूत्र निरर्थक नहीं है। (धवला, पु १०, पृ ४२) वस्तुत सामान्य कारण और विशेष कारण से बन्ध मे तर–तमता देखी जाती है। इस मे किसी को सन्देह नहीं है कि उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले के ही मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध होता है। किन्तु नियम यह भी है कि निगोद से निकल कर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा के अभाव मे भी उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाला हो सकता है। कहा भी है–उत्कृष्ट अनुभाग की उत्पत्ति का अभाव होने पर भी उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म वाले या तत्प्रायोग्य अनुत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म वाले सभी संक्लिष्ट सज्ञी मिथ्यादृष्टि जीव के उत्कृष्ट अनुभाग उदीरणा का स्वामित्व है। *(जयधवला, पु.११, पृ.११, पृ.४८)*

मूल चूर्णिसूत्र में तीसरा पद है– कस्स। किसके होती है? "कस्से त्ति पुच्छा सयस्स कत्तारत्तपडिसेहफला।" यह पूछे जाने पर कि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति किसके होती है? उत्तर में कहते हैं कि इस प्रश्न के इस जीव के मिथ्यात्व और सोलह कषायों की अनुत्कृष्ट स्थिति

का बन्ध होगा जो यहाँ विवक्षित नहीं है। यथार्थ में उत्कृष्ट स्थितिबन्ध काल की प्रधानता से कहा गया है, निषेको की प्रधानता से नहीं। यही कारण है कि अनुत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करने वाले जीव के उत्कृष्ट स्थिति नहीं हो सकती। चूर्णिसूत्र मे भी यही कहा गया है कि "उक्कस्सट्ठिदिंबधमाणस्स" अर्थात्–उत्कृष्ट स्थिति बाँधने वाले के ही उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति होती है।

आगम में स्पष्ट उल्लेख है कि उत्तर प्रकृतियों मे जो सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं, उनका चारो प्रकार का बन्ध होता है तथा शेष बची जो तेहत्तर प्रकृतियाँ हैं, उन का सादिबन्ध और अध्रुवबन्ध होता है। (देखिए, जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ६०) फिर, कर्म की प्रकृति योग के निमित्त से उत्पन्न होती है, इसलिये उस की कषाय से उत्पत्ति होने मे विरोध आता है। भिन्न कारणो से उत्पन्न होने वाले कार्यों मे एकरूपता नहीं हो सकती, क्योकि इसका निषेध है। (जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ६३) इस प्रकार सूत्र मे 'मिथ्यात्व' पद इसलिये दिया गया है कि 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्मप्रकृति' का कार्य अन्य कर्मप्रकृतियाँ नहीं कर सकती हैं। क्योंकि मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियो मे से मिथ्यात्व, बारह कषाय और नौ नोकषायो का क्षय होने के पहले तक निरन्तर सत्त्व पाया जाता है। मोहनीय की सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट दोनो प्रकार की स्थिति कही गई है। यह भी एक नियम है कि यदि मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होते समय सोलह कषायो की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होता है, तो उत्कृष्टस्थिति होती है और यदि ऐसा नहीं होता है, तो अनुत्कृष्ट स्थिति होती है। वास्तव मे अपने–अपने स्थितिबन्ध के विशेष कारणो को छोड कर केवल उत्कृष्ट सक्लेश से सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं होता है। पूछने का अभिप्राय 'स्वकर्तृत्व' का प्रतिषेध करना है, क्योकि 'मिथ्यात्त्व' प्रकृति स्वय अपना बन्ध नहीं कर सकती है। बन्ध होने मे दो का एकत्व आवश्यक है। बाँधने वाला और बँधने वाला ये दो भिन्न होते हैं। अत 'स्वकर्तृत्व' के निषेध का अर्थ यही है कि मिथ्यात्वकर्म अपने को नहीं बाँधता। तो फिर कौन बाँधता है? इसका समाधान यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्या भाव के निमित्त से मिथ्यात्त्व का बन्ध करता है।

व्यवहार मे यह भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि साध्य और साधन भिन्न–भिन्न होते हैं। इसी प्रकार बन्धक और बध्यमान में भेद रहता है। फिर, मिथ्यात्व अपने को कैसे बाँध सकता है? यही कारण है कि यह कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व आदि सोलह कर्मप्रकृतियो का बन्ध करता है। वास्तव में यह कथन उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के लिए है। क्योकि प्रत्येक प्रकृति के उत्कृष्ट बन्ध के लिए अपने–अपने विशेष प्रत्यय होने पर ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होता है।

आठ कर्मों मे से ज्ञानावरणीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर आयु के सिवाय अन्य शेष छह कर्मों का स्थितिबन्ध नियम से होता है। कारण यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यात्व मे होने से वहॉ दर्शनावरणादि छह कर्मों का भी बन्ध होता है। (महाबन्ध पु० २, पृ० ७८ विशेषार्थ) मिथ्यात्व सर्वघाति कर्म प्रकृति है– "मिच्छ च सव्वघादी" (कर्मप्रकृति, गा० १०६)। अत मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता, भले ही कषाय का कैसा भी उदय हो? नियम तो यही है। *(धवला पु० ६, शास्त्राकार, पृ० ४५)*

यदि मिथ्यादृष्टि को मिथ्यात्व भाव का कर्ता न माना जाए, तो ऋजसूत्रनय के एकान्तवाद का प्रसग उपस्थित हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने "समयसार" की गाथा स ३२८से ३३१ इन चार गाथाओ मे (आ॰ जयसेन के अनुसार गाथा स ३५५–३५६ पॉच गाथाओं मे) इस विषय का सम्यक् स्पष्टीकरण किया है। आचार्य जयसेन भावार्थ समझाते हुए कहते हैं– "यदि मिथ्यात्व नाम की मोह कर्म की प्रकृति जो कि पुद्गलद्रव्यमय है, यही आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है, (जैसा कि साख्यमत मे माना गया है) तो यहॉ जो प्रकृति है सो वह अचेतन प्रकृति जीव के मिथ्यात्व भाव को करने वाली हो जाएगी, किन्तु ऐसा बनता नहीं है।" (पृ० ३१७) आगे कहते हैं– "अब यदि उपर्युक्त दूषण से बचने के लिए यह कहा जाए कि यह प्रत्यक्षभूत जीव द्रव्य कर्म रूप पुद्गल द्रव्य के शुद्धात्म तत्त्वादिक के विषय मे विपरीत अभिप्राय को पैदा करने वाले भाव, मिथ्यात्व को कर देता है, किन्तु स्वय भाव मिथ्यात्व रूप परिणमन नहीं करता है, ऐसा तेरा मत है? तो फिर एकान्त रूप से यह

पुद्गल द्रव्य ही मिथ्यादृष्टि होना चाहिए, जीव मिथ्यादृष्टि नहीं होना चाहिए। ऐसी दशा में कर्मबन्ध भी उसी के होना चाहिए, संसार भी उसी के, अपितु जीव के तो फिर कुछ नहीं होना चाहिए, यह प्रत्यक्ष विरोध है।" (समयसार, तात्पर्यवृत्ति, प्रथम संस्करण, १६६६, ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर, पृ. ३१६) इस अभिप्राय को ध्यान मे रख कर मूल चूर्णिसूत्र में 'स्वकर्तृत्व' का प्रतिषेध किया गया है कि मिथ्यात्व भाव स्वयं अपने बन्ध का कर्ता नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त यह है कि जो करता है, वही भोक्ता होता हैं। प जयचन्दजी छावडा के शब्दों मे "ऋजुसूत्रनय का एकान्त पकड कर जो ऐसा मानते हैं कि जो करता है, वह भोगता नहीं है, अन्य भोगता है। और जो भोगता है, वह करता नहीं है, अन्य करता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि अरहत के मत के नहीं है।" (समयसार तात्पर्यवृत्ति, पृ० ३१७) यही कथन मूल मे "समयसार" गा० ३३०–३३१ में किया गया है। अत मिथ्यात्व नामक मोहनीय कर्म प्रकृति आत्मा को मिथ्यादृष्टि करती है– इस 'स्वकर्तृक' का प्रतिषेध किया गया है। यहॉ पर मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व भाव करता है, इसका खण्डन या प्रतिषेध नहीं किया गया है। पुद्गल द्रव्य तो कहीं मिथ्यादृष्टि होता नहीं? अत पुद्गल द्रव्य के मिथ्यादृष्टि होने का निषेध हैं। इस प्रकार यहॉं पर कर्तृत्व के अनुसार कहा गया है।

प्रथम यह कि जिस अन्तिम निषेक की सत्तर कोड़ाकोडी सागर प्रमाण स्थिति पडी है, उस निषेक की उत्कृष्ट स्थिति सज्ञा है। दूसरे, उत्कृष्ट स्थिति काल की प्रधानता से कही गई है, निषेको की प्रधानता से नहीं। अत अनुत्कृष्ट स्थितिबन्ध के समय बन्ध करने वाले जीव के उत्कृष्ट स्थिति नहीं हो सकती है। कारण यह है कि उस समय उत्कृष्ट काल सत्तर कोड़ाकोडी सागर मे से एक, दो आदि समय कम हो जाते हैं। "एव सोलसकसायाण" अर्थात् जिस प्रकार मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति के स्वामित्व की प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार सोलह कषायों की उत्कृष्ट स्थिति के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए या प्ररूपणा करनी चाहिए। इस में दो बाते स्पष्ट हैं– प्रथम यह कि मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्या भाव से मिथ्यात्व का बन्ध होता है यानी अन्य गुणस्थान में अन्य भाव से मिथ्यात्व का बन्ध नहीं हो सकता। दूसरी, यह कि तीव्र सक्लेश

वाला मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्व का बन्ध करता है। *(कसायपाहुड भा० ३, पृ० २३१)*

फिर, यह स्पष्ट है कि जीव ही उत्कृष्ट द्रव्य का स्वामी होता है, क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग रूप कर्मों के आस्रव अन्यत्र नहीं पाए जाते हैं। (धवला पु० १०, पृ० ३२) कषाय के बिना अरिहन्त, सिद्ध, बहुश्रुत एवं आचार्य की आसादना से मिथ्यात्व का आस्रव—बन्ध होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि यदि कषाय मात्र ही उत्कर्षण का कारण होता, तो यह सूत्र निरर्थक होता। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि तीव्र मिथ्यात्व व अरिहन्त, सिद्ध, बहुश्रुत एवं आचार्य की आसादना और तीव्र कषाय उत्कर्षण का कारण है। इस कारण यह सूत्र निरर्थक नहीं है। (धवला पु० १०, पृ० ४२) इस से यह सिद्ध है कि मिथ्यात्व उत्कृष्ट स्थिति— बन्धकारक है। यह भी एक नियम है कि जिस के उत्कृष्ट मिथ्यात्व की स्थिति होती है, उसी के उत्कृष्ट सक्लेश रूप कषाय होती है। आ० जयसेन के शब्दो मे "असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीनां तु मिथ्यात्वादिरूप तीव्रसक्लेशे सति तीव्रो हलाहलविषसदृशो भवति।" पूछने का अभिप्राय 'स्वकर्तृत्व' का प्रतिषेध करना है। श्रीमान् पं० जगन्मोहनलालजी सिद्धान्त शास्त्री ने इसका अर्थ प्रकारान्तर से यह किया है कि मिथ्यात्व अपना बन्ध का कर्ता नहीं है— यह फलितार्थ किया है जो आगमविरुद्ध है। क्योंकि आचार्यश्री परस्पर यह विरुद्ध कथन नहीं कर सकते हैं— कि एक ओर तो यह कहे कि कर्म की शेष प्रकृतियॉ मिथ्यात्व का बन्ध नहीं कर सकती हैं और दूसरी ओर यह कहे कि मिथ्यात्व कर्मप्रकृति अपना स्वय बन्ध नहीं कर सकती? फिर, मिथ्यात्व प्रकृति बॅधती भी है या नहीं— यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। आगम के सम्पूर्ण अभिप्राय को ध्यान में रख कर विचार करने पर यह निश्चित हो जाता है कि मिथ्यात्व का बन्ध मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व के स्वोदय से ही होता है। (धवला पु० ८, पृ० ४४) क्योंकि जीव ही मिथ्यात्व भावकर्म का कर्ता है। इस प्रकार जब मिथ्यादृष्टि अपने मिथ्यात्व भाव से मिथ्यात्व का बन्ध करता है, तब अनन्तानुबन्धी या अप्रत्याख्यान आदि को मिथ्यात्व का बन्ध करने वाला कर्मप्रकृति कहना कहाँ तक तर्कसंगत व आगमसम्मत कहा जा सकता

है? फिर, मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध और उदय दोनो साथ व्युच्छिन्न होते हैं।

चूर्णिसूत्र मे चौथा पद है— "उक्कस्सट्ठिदि बधमाणस्स" अर्थात् उत्कृष्ट स्थिति को बॉधने वाले जीव के मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति होती है। यथार्थ मे इस चूर्णिसूत्र मे यह कहा गया है कि उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करने वाले जीव के ही मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति होती है। इस पर शकाकार का कहना है कि जो प्रथमादि समयो मे उत्कृष्ट स्थिति को बॉध कर द्वितीयादि समयो मे अनुत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करने लगता है, उस के उत्कृष्ट स्थिति के निषेको का अध.स्थिति गलन नहीं होता। अत अनुत्कृष्ट स्थिति के बन्ध के समय भी उत्कृष्ट स्थिति कहनी चाहिए। किन्तु यदि उत्कृष्ट स्थितिबन्ध कषाय से होता, तो द्वितीय गुणस्थान मे उत्कृष्ट स्थितिबन्ध होना चाहिए था, परन्तु वह भी नहीं होता। इस का एक मात्र कारण यही है कि वहॉ पर मिथ्यात्व का उदय नहीं है। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थान मे सम्पूर्ण कषाये विद्यमान हैं, फिर भी मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता।

आचार्य यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रो मे स्पष्ट रूप से कहा है कि मिथ्यात्वकर्म की अवस्थित स्थितिविभक्ति का कितना काल है? जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। यही नहीं, जिस प्रकार से मिथ्यात्वकर्म की असख्यातभाग—हानि—वृद्धि आदि के जघन्य और उत्कृष्ट कालो की प्ररूपणा की है, उसी प्रकार शेष कर्मो के जघन्य—उत्कृष्ट काल बीजपद के द्वारा जान लेना चाहिए। (अवट्ठिदट्ठिदिविहत्तिया केवचिर कालादो होंति? जहण्णेण एगसमओ। उक्कस्सेण अतोमुहुत्त। सेसाण पि कम्माणभेदेण बीजपदेण णेदव्व।— कसायपाहुडसुत्त, ३३६—३४२ सूत्र तथा गा॰ २२, पृ॰ १३८, १३६) यह पहले कह कर आए है कि मिथ्यात्वप्रकृति की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति का प्रमाण सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है। मिथ्यात्व आदि चौदह मोहप्रकृतियो की स्थितिविभक्ति का जघन्य काल बतलाने का कारण यह है कि असयत सम्यग्दृष्टि से ले कर अप्रमत्तसयत गुणस्थान तक के जीव दर्शनमोहनीय कर्म की क्षपणा के योग्य होते है। अत कोई सन्देह नहीं रह जाता है।

कर्मप्रकृति विषयक कर्तृत्व-

यथार्थ मे नित्य, निरजन, निष्क्रिय ऐसे अपने आत्मस्वरूप की भावना से रहित जीव के कर्मादि का कर्तृत्व कहा गया है, क्योकि जो कर्ता है वह स्वय कर्म का फल भोक्ता है। अत. अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से ही जीव कर्म का कर्ता कहा गया है। वस्तुतः जो परिणमन करता है, वही अपने परिणमन का कर्ता होता है। निश्चय से कर्ता, कर्म तथा अधिकरण में अभेद है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम का ही कर्ता होता है, अन्य का नहीं। कर्ता वही है जो स्वतन्त्र हो कर कार्य करता है। यदि उसे अन्य कारणो की सहायता से कार्य करना पड़े, तो वह कर्ता नहीं है। जैनदर्शन के अनुसार जीव अपने भाव का कर्ता है, पुद्गलकर्म अपने भाव का कर्ता है। एक दूसरे के लिए निमित्त है, लेकिन कर्ता नहीं है। आचार्य अकलकदेव कहते हैं कि कर्तृत्व भी साधारण धर्म है, क्योकि अपनी-अपनी क्रिया की निष्पत्ति मे सब द्रव्यों की स्वतन्त्रता है (तत्त्वार्थराजवार्तिक, २, ७)। इस से स्पष्ट हो जाता है कि जीव की क्रिया का कर्ता जीव है। जीव अपने (कल्पित) भावो को करता है, उनसे ही बॅधता है और उन को ही भोक्ता है।

प्रकृतिबन्ध-

'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव है। प्रकृति, शील और स्वभाव ये तीनो एकार्थवाचक शब्द हैं। जो कर्मस्कन्ध अज्ञानादि रूप फल देता है और भविष्य मे भी देगा, उसे कर्मप्रकृति कहा जाता है। कर्म की मूल प्रकृतियॉ आठ होती हैं। अत प्रत्येक प्रकृति का अपना-अपना स्वभाव है। जैसे नीम का स्वभाव कडवा है और गन्ने का मधुर है, वैसे ही ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति है-ज्ञान न होना। भेद-कथन से मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति को छोड़ कर १४६ प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य कही गई हैं, किन्तु अभेद-कथन में १२० प्रकृतियॉ बन्ध योग्य हैं।

वास्तव में कर्म पुद्गलपिण्ड है। जहॉ अनेक कर्मों का समवाय है, उस मे सभी की प्रकृतिगत रासायनिक प्रकृति भिन्न-भिन्न है। अत· रासायनिक प्रक्रिया मे विखण्डन होने पर सभी प्रकार की कार्मण वर्गणाएँ वितरण प्रणाली में सजातीय रूपों मे सम्मिलित हो जाती हैं।

आठ कर्म—प्रकृतियो के, वास्तव में कार्मण वर्गणा रूप एक पौद्गलिक स्कन्ध मय होने पर भी मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग रूप प्रत्ययों के आश्रय से उत्पन्न हुई आठ शक्तियों से संयुक्त जीव के सम्बन्ध से उस कार्मण पुद्गल स्कन्ध के, आठ कर्मों के आकार रूप से परिणमन होता है[३३९]। यह भी एक प्रश्न है कि इन आठ प्रकृतियों का ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय के क्रम से निर्देश का यही क्रम क्यों रखा गया है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा के सब गुणों मे ज्ञान गुण पूज्य है, इसलिये उसे सब से पहले कहा। उसके बाद दर्शन और फिर उसके बाद सम्यक्त को कहा है। वीर्य शक्ति रूप है जो जीव और अजीव दोनो में पाया जाता है। जीव ज्ञानादि शक्ति रूप और अजीव (पुद्गल) शरीरादि शक्ति रूप है। अत इन गुणो के आवरण करने वाले कर्मो का यही क्रम माना गया है। अन्तराय कर्म कथचित् अघातिया है, इसलिये वह सब कर्मों के अन्त मे कहा गया है। वेदनीय कर्म कथचित् घातिया है, इसलिये उसे मध्य में कहा। इस प्रकार कर्मो का यही क्रमसिद्ध होता है[३४०]।

जिनागम के गहन अध्ययन से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म और उन की मूल तथा उत्तर प्रत्येक प्रकृति का बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभागमूलक होता है। मिथ्यात्व का भी चारो प्रकार का बन्ध पाया जाता है। 'महाबन्ध' मे स्पष्ट रूप से मिथ्यात्व को प्रकृतिबन्ध का प्रत्यय निरूपित किया गया है[३४१]।

यदि यह कहा जाए कि सिद्धान्तशास्त्रो में तो केवल योग को प्रकृति और प्रदेशबन्ध का कारण कहा है, तो फिर मिथ्यात्व, असयम और

---

३३९ "कम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खधा एयसरूवा कध जीवसबधेण अट्ठभेदमाढउक्कते। ण, मिच्छत्तासजम—कसायजोगपच्चयावट्ठभबलेण समुप्पण्णाट्ठसत्तिसजुत्तजीवसबधेण कम्मइयपोग्गलक्खधाणं अट्ठकम्मायारेण परिणमण पडिविरोहाभावादो।" धवला पु० १२, पृ० २८७

३४० गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० १६—२०

३४१ "एत्तो एक्केक्कस्स पगदीओ मिच्छत्तपच्चयं असंजमपच्चय कसायपच्चयं।" महाबन्ध पु० ४ (अणुभागबधाहियार), पृ० १८५

कषाय को भी प्रकृतिबन्ध का प्रत्यय कैसे निरूपित किया जा रहा है? इस का समाधान यह है कि प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—एक सामान्य प्रत्यय और दूसरा विशेष प्रत्यय। जैसे गति के लिये धर्म द्रव्य सामान्य प्रत्यय है तथा जलचर जीवो के लिये जल और थलचर जीवों के लिए स्थान विशेष प्रत्यय हैं। धर्म द्रव्य के उपस्थित होने पर भी यदि नदी, तालाब में जल न हो, तो जलचर जीव चल नहीं सकते। इसी प्रकार प्रकृतिबन्ध के लिये भी योग सामान्य प्रत्यय है और मिथ्यात्व, असयम, कषाय विशेष प्रत्यय हैं। करणानुयोग के विशिष्ट अभ्यासी श्री नेमचन्द वकील के शब्दो मे "यदि मिथ्यात्व न हो, तो १६ प्रकृतियों का बन्ध नहीं हो सकता, यदि अनन्तानुबन्धी चतुष्क सम्बन्धी असयम न हो, तो २५ प्रकृतियो का बन्ध नहीं हो सकता है। ऐसे ही आगे भी जान लेना चाहिए। अत भिन्न—भिन्न प्रकृतियों के भिन्न—भिन्न विशेष प्रत्यय हैं। मात्र योग से तो केवल एक सातावेदनीय का आस्रव होता है[३४२]।" श्री भगवन्त भूतबली भट्टारक कहते हैं—मिथ्यात्व नपुसकवेद, नरकायु, नरक गति, चार जाति, हुण्ड सस्थान, असम्प्राप्तसृपाटिकासहनन, नरकगत्यानुपूर्वी, आतप और स्थावर आदि चार का बन्ध मिथ्यात्वप्रत्ययक होता है[३४३]। मिथ्यात्व के कारण ही ससारी जीव अनन्त संसार, नरकायु, तिर्यचायु का बन्ध करता है[३४४]। मिथ्यात्व के उदय मे ही मिथ्या भाव होते हैं। जो व्यक्ति अरहन्त, सिद्ध, जिन प्रतिमा, तप, निर्ग्रन्थ गुरु, श्रुत, धर्म, सघ के प्रतिकूल होता है, उन को झूठा दोष लगाता है, वह जीव दर्शनमोहनीय का बन्ध करता है। शतक ग्रन्थ मे उस के उदय से जीव के ससार का अन्त नहीं होता[३४५], ऐसा कहा गया है।

मिथ्यात्व के बन्धको का स्पर्शन सातों पृथ्वियों में लोक का असख्यातवाँ भाग कहा गया है। मिथ्यात्व के बन्धको का १३/१४ भाग

---

३४२. सन्मति—सन्देश, वर्ष २८, अक ६, जून, १९८३ के अंक में प्रकाशित "क्या मिथ्यात्व बन्ध का कारण नहीं है" लेख, पृ० १७ से उद्धृत

३४३. महाबन्ध पु० ४, पृ० १८६

३४४. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ८०३, ८०४

३४५ वही, गा० ८०२

अथवा सर्व लोक प्रमाण है। मिथ्यात्व के अबन्धक सासादन गुणस्थानवर्ती तिर्यंच ७/१४ भाग स्पर्श करते हैं[३४६]।

प्रदेशबन्ध-

मिथ्यात्वप्रत्ययक सोलह प्रकृतियो का बन्ध मिथ्यात्व से ही होता है। इसलिये उनके बन्ध मे अनन्तानुबन्धी कषाय तथा असयम परिणाम का होना अनिवार्य नहीं है। उक्त सोलह प्रकृतियों का प्रदेशबन्ध की अपेक्षा विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी प्रकार का प्रदेशबन्ध क्यो न हो, उस के लिए मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है। मिथ्यात्व के अभाव में केवल योग के निमित्त से इन प्रकृतियो मे से किसी का भी प्रदेश बन्ध नहीं हो सकता। यद्यपि योगस्थानो के द्वारा ही बहुत प्रदेशों का आगमन होता है। कहा भी है–बहुत–बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानो को प्राप्त होता है। इन उत्कृष्ट योगस्थानो के द्वारा बहुत प्रदेशों का आगमन होता है[३४७]। यही नहीं, यह भी कहा गया है कि जितने योगस्थान हैं, उतने ही प्रदेशबन्ध स्थान हैं, किन्तु यह कथन सब कर्मप्रदेश बन्धस्थानो के एकत्व को सूचित करने के लिए किया गया है[३४८]। क्योंकि यदि योग से प्रदेशबन्ध होता हो, तो सभी कर्मों के प्रदेशसमूह एक हो जायेगे, कारण कि सभी प्रदेशबन्ध का कारण एक ही है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर अल्पबहुत्व के साथ विरोध आता है। इस प्रत्यवस्था युक्त शिष्य के लिए उक्त सूत्र के 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' इस उत्तर अवयव का अवतार हुआ है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव है, उसके विशेष से अभिप्राय 'भेद' से है। उस प्रकृति विशेष से कर्मो के प्रदेशबन्धस्थान समान एक कारण के होने पर भी प्रदेशो से

---

३४६ महाबन्ध पु० ८, प्रकृतिबन्धाधिकार, पृ० २२५

३४७ बहुसो बहुसो उक्कस्साणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि। वेदनाखण्ड, ४, २, ४, १२ तथा– बहुसो उक्कस्सजोगट्ठाणगमणे को लोहो? बहुपदेसागमण। धवला पु० १०, पृ० ४५

३४८ तम्हा जाणि चेव जोगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबधट्ठाणाणि त्ति वुत्ते जोगट्ठाणेहिंतो सव्वकम्पदेसबधट्ठाणामेगत्त परूविदं। वही, (४, २, ४, २१३) पृ० ५११

विशेष अधिक है[३४९]। अत इनका कारण प्रकृति विशेष ही समझना चाहिए, अन्य नहीं है।

महाबन्ध के चतुर्थ भाग मे स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि मिथ्यादृष्टि नियम से प्रदेशबन्ध करता है। प्रश्न है कि मोहनीय और आयुकर्म के उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी कौन है? उत्तर है कि जो अन्यतर तिर्यंच और मनुष्य सज्ञी मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि जीव सात प्रकार के कर्मो का बन्ध कर रहा है और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मे अवस्थित है, वह उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध का स्वामी है[३५०]। मिथ्यात्व के उत्कृष्ट प्रदेशो का बन्ध करने वाला जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क का नियम से बन्धक होता है और वही नियम से उत्कृष्ट प्रदेशो का बन्धक होता है[३५१]।

बन्ध मे सक्रमण मुख्य है तथा सक्रमण मे प्रदेशसंक्रम होता है। अत मिथ्यात्व का भी प्रदेशसक्रम कहा गया है। आ० वीरसेन स्वामी कहते है कि मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशसक्रम किसके होता है? जो जघन्य सत्कर्म के साथ दो छियासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व का पालन कर, चार बार कषायो को उपशमा कर, संयम और सयमासयम को बहुत बार प्राप्त कर तथा सब से महान सम्यक्त्वकाल का पालन कर अन्तर्मुहूर्त काल मे सिद्ध होने वाला है, इसलिये जो दर्शनमोहनीय की क्षपणा करता है, उस दर्शनमोहक्षपक के अध प्रवृत्तकरण के अन्तिम समय मे मिथ्यात्व का जघन्य प्रदेशसक्रम होता है[३५२]। सभी कर्मो के जघन्य और उत्कृष्ट

---

३४९ 'जदि जोगादो पदेसबधो होदि तो सव्वकम्माण पदेसपिडस्स समाणत्त पावदि, एगकारणत्तादो। ण च एव, पुव्विल्लप्पाबहुएण सह विरोहादो त्ति। एव पच्चवट्ठिदसिस्सत्थमुत्तरसुत्तावयवो आगदो, 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' ति। पयडी णाम सहाओ, तस्स विसेसो भेदो तेण पयडिविसेसेण कम्माण पदेसबधट्ठाणाणि सम्माणकारणत्ते वि पदेसेहि विसेसाहियाणि। "वही, (४, २,) २१३, पृ० ५११

३५० महाबन्ध पु० ४ (प्रदेशबन्धाधिकार), भारतीय ज्ञानपीठ, १९५७, पृ० १७

३५१ वही, पृ० १८०

३५२ धवला पु० १६ (सतकम्म), पृ० ४३३ से उद्धृत एव कसायपाहुडसुत्त, पृ० ४०५

प्रदेशसंक्रमण का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है[353]। मिथ्यात्व के उत्कृष्ट प्रदेशसक्रमण को करने वाला जीव राम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी कषायों के प्रदेशसंक्रमण को नहीं करता है। मिथ्यात्व के उत्कृष्ट प्रदेशों का सक्रमण करने वाला शेष कर्मो के प्रदेशों का सक्रामक होता है, किन्तु नियम से अनुत्कृष्ट प्रदेशों का ही सक्रमण करता है[354]। अनन्तानुबन्धी लोभ से मिथ्यात्व का उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रमण विशेष अधिक होता है। प्रत्याख्यान लोभ से भी मिथ्यात्व मे उत्कृष्ट प्रदेशसक्रमण असंख्यातगुणित होता है[355]। जो दर्शनमोहनीय का क्षपण कर रहा है, वह अपूर्वकरण के प्रथम समय से ले कर जब तक सर्व संक्रमण से मिथ्यात्व का सक्रमण करता है, तब तक मिथ्यात्व का भुजाकार सक्रामक रहता है। जिसने पूर्व में सम्यक्त्व उत्पन्न किया है, वह जीव मिथ्यात्व से सम्यक्त्व मे आया, उस प्रथम समयवर्ती सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध समय के पश्चात् एक आवली अतीत काल तक के मिथ्यात्व के प्रदेशाग्र हैं, उन्हे विध्यातसक्रमण से सक्रमित करता है[356]।

वास्तव मे जीव एक क्षेत्र मे अवगाह को प्राप्त हुए तथा कर्म के योग्य सादि, अनादि अथवा उभय स्वरूप पुद्गल–प्रदेश समूह को मिथ्यात्व आदि द्वारा अपने सब प्रदेशो से बाँधता है[357]। इस मे ध्यान देने योग्य विंशेष यह है कि मूल प्रकृतिप्रक्रम के अन्तर्गत आयु का द्रव्य सब से स्तोक (अल्प) है और मोहनीय का द्रव्य वेदनीय के द्रव्य को छोड कर सब से विशेष अधिक है[358]।

---

३५३ कसायपाहुड सुत्त, पृ ४१०

३५४ वही, पृ० ४११

३५५ वही, ४१३, ४१४

३५६ कसायपाहुडसुत्त, पृ० ४२४ से उद्धृत

३५७. एयक्खेत्तोगाढं सव्वपदेसेहिं कम्मणो जोग्गं।
बंधइ जहुत्तहेऊ सादियमहणादियं वा वि।। गो० कर्मकाण्ड, गा० १८५ तथा टीका

३५८. धवला पु० १५, पृ० ३५

स्थितिबन्ध-

जिनागम की सामान्य या विशेष जानकारी रखने वाला यह निश्चित रूप से जानता है कि मिथ्यात्व की ही यह सामर्थ्य है कि वह सब से अधिक सत्तर कोड़ाकोड़ी की स्थिति डालता है। आचार्य पुष्पदन्त, भूतबली कहते हैं--मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिविभक्ति पूरी सत्तर कोडाकोड़ी सागर है[३५९]। आचार्य वीरसेनस्वामी इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह अद्धाच्छेद एक समयप्रबद्ध की अपेक्षा कहा है, नाना समयप्रबद्धो की अपेक्षा नहीं है, क्योकि नाना समय प्रबद्धों की अपेक्षा अद्धाच्छेद के कथन करने पर तीन भग प्राप्त होते हैं। इस पर प्रश्न है कि यह स्थिति एक समय प्रबद्ध की है, यह किस प्रमाण से जाना जाता है। इसका समाधान है--क्योकि जो कार्मणवर्गणास्कन्ध अकर्म रूप से स्थित है, वे मिथ्यात्वादि कारणो से मिथ्यात्व कर्म रूप से एक साथ परिणत हो कर जब सम्पूर्ण जीव प्रदेशो में सम्बद्ध हो जाते हैं, तब उनकी एक समय अधिक सात हजार वर्ष से ले कर समयोत्तरादि क्रम से निरन्तर सत्तर कोडाकोड़ी सागरप्रमाण स्थिति देखी जाती है। इस से जाना जाता है कि यह स्थिति एक समयप्रबद्ध की है[३६०]। इसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति है, किन्तु यह विशेषता है कि इनकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोडाकोड़ी सागर है[३६१]। सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दोनो बन्ध प्रकृतियाँ नहीं हैं। इन के सम्बन्ध मे यह नियम है कि जब कोई छब्बीस प्रकृतियो की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, तब यह प्रथमोमशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के पहले समय मे मिथ्यात्व के तीन भाग कर देता है, जिन को मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व सज्ञा प्राप्त होती है। किन्तु ऐसे जीव के आयु कर्म को छोड कर शेष सात कर्मो का उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व अन्त कोड़ाकोडी सागर से अधिक

---

३५९ मिच्छत्तस्स उक्कस्सट्ठिदिविहत्ती सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ पडिवुण्णाओ। कसायपाहुड, भा० ३, ३, ३६०, पृ० १६४

३६०. वही, पृ० १६४

३६१. वही, पृ० १६५

नहीं होता है, इसलिये ऐसे जीव के सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व सम्भव नहीं है[३६२]।

महाबन्ध मे जहाँ भी स्वामित्वप्ररूपणा की गई है, वहाँ पर मिथ्यात्व, असयम, कषाय तथा योग प्रत्ययों में से मिथ्यात्वप्रत्यय की मुख्यता से प्ररूपणा की गई है। अत ससार का परम बीज होने के कारण अनन्त ससार मे टिकाये रहने वाला मिथ्यात्व स्थितिबन्ध का सुनिश्चित कारण है। आगम मे ओघ से कथन करते हुए यह कहा गया है कि सातो कर्मों के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी सज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीव है। यही नहीं, आदेश की अपेक्षा नरकगति में नारकियो मे सातो कर्मो के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी मिथ्यादृष्टि है[३६३]। इसी प्रकार ५ ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, पॉच अन्तराय आदि के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी सज्ञी, पचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि कहा गया है[३६४]। यदि मिथ्यात्व स्थितिबन्ध का कारण नहीं हो और केवल अनन्तानुबन्धी आदि कषाय ही स्थितिबन्ध का कारण हो, तो उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी दूसरे गुणस्थान के जीव को भी कहना चाहिए क्योकि दूसरे गुणस्थान मे भी अनन्तानुबन्धी का उदय है। उक्त प्रकृतियो मे मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियो, साधारण आदि अन्त की नौ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग बन्ध सक्लेश परिणाम युक्त मनुष्य और तिर्यंच करते है। मनुष्यायु और

---

३६२ वही, पृ० १६६ से उद्धृत

३६३ "अण्णदरस्स पचिदियस्स सण्णिस्स मिच्छादिट्ठिस्स सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तगदस्स सागारजागारसुदोवजुत्तस्स उक्कस्सियाए ट्ठिदीए उक्कस्सट्ठिदिसकिलेसेण वट्टमाणयस्स अथवा ईसिमज्झिमपरिणामस्स वा। आदेसेण णिरयगदीए णेरइएसु सत्तण्ण कम्माण उक्कस्सओ ट्ठिदिबधो कस्स होदि? अण्णदरस्स वि मिच्छादिट्ठिस्स सागारजागारसुदोवजुत्तस्स उक्कस्सियाए ट्ठिदीए उक्कस्सए ट्ठिदिसकिलेसे वट्टमाणस्स अधवा ईसिमज्झिमपरिणामस्सवा।" महाबन्ध पु० २ (ट्ठिदिबधाहियार), पृ० ३३

३६४ वही, पृ० २५५

तिर्यंचायु का तीव्र अनुभागबन्ध विशुद्ध परिणाम वाले देव, मनुष्य या तिर्यंच करते हैं तथा एकेन्द्रिय, स्थावर का संक्लेश परिणाम वाला और आतप का विशुद्ध परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि देव अपनी आयु के छह मास शेष रहने पर तीव्र अनुभागबन्ध करता है[365]। यही नहीं, आहारक शरीर, आहारक शरीर–आगोपाग, तीर्थंकर और देवायु इन चार प्रकृतियों को छोड़ कर शेष एक सौ सोलह प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कहा गया है[366]। देवायु से शेष नरकादि तीन आयु, वैक्रियिकषट्क, द्वीन्द्रियादि तीन विकलेन्द्रिय जाति, सूक्ष्मादि तीन इन पन्द्रह प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टि जीव ही करते है। औदारिक शरीर, औदारिक आगोपांग, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत और सृपाटिकासंहनन इनका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध देव और नारकी मिथ्यादृष्टि जीव ही करते हैं। एकेन्द्रिय जाति, आतप और स्थावर इन तीन प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यादृष्टि देव करते है। शेष बानवे प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले तथा ईषन्मध्यम परिणाम वाले चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीव करते हैं[367]। यदि एकेन्द्रिय जीव तीव्र से तीव्र भी सक्लेश से परिणत हो कर मिथ्यात्वकर्म का बन्ध करे, तो वह एक सागरप्रमाण स्थिति को बॉधेगा, इससे अधिक नहीं। और वही जीव यदि मन्द से भी मन्द सक्लेश से परिणत हो कर मिथ्यात्व का बन्ध करे, तो पल्य के असख्यातवे भाग से कम एक सागरप्रमाण स्थिति को बाँधेगा, इस से कम की नहीं। द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीव के दर्शनमोह का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध २५ सागर, त्रीन्द्रिय पर्याप्त जीव के दर्शनमोह का उत्कृष्ट

---

३६५ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० १६८ तथा जीवतत्त्वप्रदीपिका

३६६ सव्वुक्कस्सट्ठिदीण मिच्छाइट्ठी दु बधगो भणिदो।
आहार तित्थयर देवाउं वा विमोत्तूण।। कर्मप्रकृति, गा० १३०

३६७ णर–तिरिया सेसाऊ वेगुव्वियछक्क वियल–सुहुमतिय।
सुर–णिरया ओरालिय–तिरियदुगुज्जोव–सपत्तं।। वही, गा० १३२
देवा पुण एइदिय आदावं थावरं च सेसाणं।
उक्कस्ससंकिलिट्ठा चदुगदिआ ईसिमज्झिमया।। वही, गा० १३३

स्थितिबन्ध ५० सागर, चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १०० सागर का तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव के मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध १००० सागर का कहा गया है[३६८]।

मिथ्यात्वकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण एक समय में बंधने वाले समयप्रबद्ध की अपेक्षा कही गई है, क्योकि जो कार्मण–वर्गणाओ का स्कन्ध जीव के मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के कारणों से मिथ्यात्व कर्म रूप परिणत हो कर बन्ध को प्राप्त होता है, उस की उत्कृष्ट स्थिति समयाधिक सात हजार वर्षप्रमाण आबाधाकाल को आदि ले कर निरन्तर एक–एक समय की अधिकता के क्रम से पूरे सत्तर कोडाकोड़ी सागरोपम काल तक देखी जाती है[३६९]। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम उपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के प्रथम समय मे मिथ्यात्वद्रव्य के तीन भाग कर देता है। मिथ्यात्व प्रकृति के तीन भाग हो जाने पर अट्ठाईस मोह–प्रकृतियो की सत्ता वाला मिथ्यात्व को प्राप्त हो कर मिथ्यात्वकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध करता है और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त हो कर अन्तर्मुहूर्त कम सत्तर कोडाकोडी सागरोपम स्थिति को, सम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथम समय मे ही सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति मे सक्रमाता है[३७०]।

स्थितिबन्ध का मूल कारण सक्लेश और विशुद्धि रूप परिणाम हैं। उत्कृष्ट स्थिति के बन्ध योग्य असख्यात लोकप्रमाण सक्लिष्ट परिणामो के पल्योपम के असख्यातवे भागप्रमाण खण्ड करने पर जो अन्तिम खण्ड प्रात होता है, उसे उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम कहते हैं। असाता आदि अप्रशस्त प्रकृतियो का सक्लेश परिणामो से तीव्र अनुभाग बन्ध होता है[३७१]। असाता आदि बयासी अप्रशस्त प्रकृतियॉ उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के तीव्र अनुभाग सहित बॅधती है[३७२]। बयालीस

३६८ वही, गा १३६ तथा टीका

३६९ कसायपाहुड सुत्त, पृ० ६२ से उदधृत

३७० वहीं, पृ० ६३

३७१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० १६३

३७२ बादालं तु पसत्था विसोहिगुणमुक्कडस्स तिव्वाओ।
वासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसकिलिट्ठस्स।। वही, गा० १६४

प्रशस्त प्रकृतियों में से आतप, उद्योत, मनुष्यायु और तिर्यंचायु इन चार का मिथ्यादृष्टि के तीव्र अनुभागबन्ध होता है[373]। इस प्रकार बयासी अप्रशस्त प्रकृतियों तथा आतप, उद्योत, मनुष्य–तिर्यंचायु इन प्रशस्त प्रकतियो को मिला कर कुल छियासी प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग सहित बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है।

अनुभागबन्ध-

अनुभाग किसे कहते हैं? द्रव्य की शक्ति का नाम अनुभाग है। आचार्य वीरसेन स्वामी के शब्दो मे छहों द्रव्यों की शक्ति का नाम अनुभाग है। वह अनुभाग छह प्रकार का है–जीवानुभाग, पुद्‌गलानुभाग, धर्मास्तिकायानुभाग, अधर्मास्तिकायानुभाग और कालद्रव्यानुभाग। इन मे से समस्त द्रव्यो का जानना जीवानुभाग है। ज्वर, कुष्ठ, क्षय आदि का विनाश करना और उनका उत्पन्न कराना, इसका नाम पुद्‌गलानुभाग है। योनिप्राभृत मे कहे गए मन्त्र–तन्त्र रूप शक्तियो का नाम पुद्‌गलानुभाग है। जीव और पुद्‌गलो के गमन और आगमन मे हेतु होना धर्मास्तिकायानुभाग है। उन के अवस्थान में हेतु होना अधर्मास्तिकायानुभाग है। जीवादि द्रव्यो का आधार होना आकाशास्तिकायानुभाग है। अन्य द्रव्यो के क्रम और अक्रम से परिणमन में हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है। महाबन्ध के 'अनुभागबन्धाधिकार' में कहा गया है कि तैजस शरीर, कार्मणशरीर, प्रशस्त वर्णचतुष्क, अगुरुलघु और निर्माण इन आठ प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबन्ध चारो गति के मिथ्यादृष्टि जीव के उत्कृष्ट सक्लेश परिणामों से होता है[374]। इन कर्म–प्रकृतियो में सैंतालीस ध्रुवबन्ध वाली प्रकृतियो का निरूपण किया गया है। यद्यपि मिथ्यात्व के रहते हुए असंयम, कषाय और योग अवश्य पाए जाते हैं, किन्तु असयम के सद्‌भाव में मिथ्यात्व पाया जाता है और नहीं भी पाया जाता है, किन्तु कषाय और योग अवश्य पाए जाते हैं। कषाय के सद्‌भाव में पूर्व के दोनों पाए जाते हैं और नहीं भी पाए जाते हैं, किन्तु योग अवश्य पाया जाता है। योग के सद्‌भाव में पूर्व के तीनों पाए जाते हैं और नहीं भी पाए

---

३७३. वही, गा० १६५

३७४. महाबन्ध पु० ४ (अणुभागबंधाहियार), पृ० १८५

जाते हैं। अतः जिन प्रकृतियों का मिथ्यात्वप्रत्ययक बन्ध कहा जाता है, उन के बन्ध के समय असंयम, कषाय और योग अवश्य होते हैं। केवल मिथ्यात्व की प्रधानता होने से उनका बन्ध मिथ्यात्वप्रत्ययक कहा गया है। 'महाबन्ध' मे यह भी कथन है कि प्रत्ययप्ररूपणा की अपेक्षा से जो पैंसठ प्रकृतियाँ कही गई हैं, उनमे से प्रत्येक प्रकृति का बन्ध मिथ्यात्वप्रत्यय, असयमप्रत्यय और कषायप्रत्ययपरक होता है[३७५]।

बन्ध के समय मे कर्म का जो अनुभाग प्राप्त होता है, उसका विपाक जीव मे, पुद्गल में तथा अन्यत्र भी होता है। विपाक के अनुसार कर्मों के चार भेद कहे गए हैं—जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी। चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्रकर्म ये छह जीवविपाकी हैं, क्योकि इनके उदय से जीव मे अज्ञान, अदर्शन, सुख—दु ख, मिथ्यात्व, राग—द्वेष, हास्य, रति—अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री—पुरुष—नपुंसक वेद, उच्च—नीच, अदान—अलाभ, अभोग—अनुपभोग और अवीर्य रूप परिणामों की उत्पत्ति होती है।

सातावेदनीय आदि शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध विशुद्धि से होता है और असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध सक्लेश से होता है। शुभ प्रकृतियों का जघन्य अनुभागबन्ध सक्लेश से और अशुभ प्रकृतियो का जघन्य अनुभागबन्ध विशुद्धि से होता है। इस प्रकार सब प्रकृतियो के अनुभागबन्ध का नियम जानना चाहिए[३७६]। घातिया कर्मों के फल देने की शक्ति लता, काठ, हड्डी और पत्थर के समान उत्तरोत्तर कठोर (तीव्र) होती है। काठ भाग के अनन्तवे भाग तक का शक्ति रूप अश देशघाती है और उस के बहु भाग से ले कर पत्थर भाग तक का शक्ति रूप अश सर्वघाती है[३७७]। मिथ्यात्व प्रकृति के लता भाग से ले कर काठ भाग के अनन्तवें भाग तक देशघाति

---

३७५ "एत्तो एक्केक्कस्स पगदीओ मिच्छत्तपच्चय असजमपच्चय कसायपच्चय।" वही, पृ० १८५

३७६ सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण सकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं।। कर्मप्रकृति, गा० १४०

३७७ वही, गा० १४१

स्पर्धक सम्यक्त्व प्रकृति के हैं। काठ भाग के अनन्त बहु भाग के अनन्तवें भाग प्रमाण भिन्न जाति के सर्वघाति स्पर्धक सम्यग्मिथ्यात्व के हैं। काठ के शेष अनन्त बहु भाग तथा हड्डी और पत्थर भाग रूप स्पर्धक मिथ्यात्व प्रकृति के जानना चाहिए[378]। इससे सिद्ध है कि मिथ्यात्व सर्वघाति प्रकृति है और उसमे फल देने की विशेष शक्ति होने से वह अनन्त ससार रूप फल देती है।

शास्त्रो और शास्त्रज्ञ पुरुषों की अविनय, ज्ञान–प्राप्ति मे बिघ्न–बाधाएँ उपस्थित करने से तथा उत्तम ज्ञान में दोष लगाने से एव तत्त्वज्ञान मे अनुत्साह, अनादर एवं अरुचि रखने से, ज्ञानी जनो को देख कर मुँह फेर लेने से तथा ज्ञान के अपलाप के अतिरिक्त द्वितीयादि गुणस्थानो मे बँधने वाली प्रकृतियाँ भी उनमे सम्मिलित हैं, फिर भी उन का स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही बतलाया है। इस से सिद्ध है कि मिथ्यात्व ही उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का हेतु है।

यदि यह कहा जाए कि आगम मे कषाय को स्थिति तथा अनुभाग बन्ध का प्रमुख कारण कहा गया है[379], तो इसका समाधान यह है कि इस प्रकार के सामान्य कथन मे कषाय मे मिथ्यात्व गर्भित है। यहाँ पर 'कषाय' से अभिप्राय उस 'मोह' से है, जिसमें दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनो सम्मिलित हैं, जैसे कि 'कसायपाहुड' मे सात कर्मो का नहीं, किन्तु दर्शनमोह तथा चारित्रमोह का प्रतिपादन है। 'कषाय' शब्द से दोनो प्रकार के मोहनीय कर्म का ग्रहण हो जाता है। यदि ऐसा न होता, तो आचार्य वीरसेन स्वामी ऐसी प्ररूपणा न करते कि केवलज्ञानावरणीय, केवल दर्शनावरणीय, असातावेदनीय और वीर्यान्तराय, ये चारो ही प्रकृतियाँ तुल्य हैं अर्थात् मिथ्यात्व से अनन्त गुने हीन अनुभाग से युक्त हैं[380]। "कसायपाहुड" में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि

---

३७८ वही, गा० १४२

३७९ "जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति।" गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० २५७, पचसग्रह ४, गा ५००, बडा नयचक्र, गा० १५४, मूलाचार, गा. २४४

३८०. षट्खण्डागम, वेदना खण्ड, धवल पु० १२, पृ० ११७ द्रष्टव्य है।

दर्शनमोहक्षपक को छोड़ कर सर्वत्र सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभाग होता है[३८१]। आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन स्पष्ट है कि क्रोध, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पुगली, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान और चोरी के भावो से कषाय–प्रत्यय की प्ररूपणा की गई है[३८२]।

मिथ्यात्व के जघन्य अनुभाग का बन्ध करने वाला जीव अनन्तानु बन्धी चतुष्क का नियम से बन्ध करता है। वह जघन्य अनुभाग का भी बन्ध करता है। यदि अजघन्य अनुभाग का बन्ध करता है, तो वह बन्ध छह स्थान पतित, वृद्धि रूप होता है। बारह कषाय, पुरुषवेद, हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का नियम से बन्ध करता है जो अनन्त गुणी वृद्धि रूप होता है [३८३]। यह भी कहा गया है कि पचेन्द्रिय तिर्यंच अपर्याप्तकों में मिथ्यात्व सब से तीव्र अनुभाग वाला है। इस से सातावेदनीय का अनुभाग अनन्तगुना हीन है[३८४]। असज्ञी जीवों मे मिथ्यात्व तीव्र अनुभाग वाला है[३८५]। अनन्तानुबन्धी कषाय मे मान का अनुभाग अनन्त गुना है और उससे क्रोध का विशेष अधिक है तथा उस से माया का अनुभाग विशेष अधिक है। उस से अनन्तानुबन्धी लोभ का अनुभाग विशेष अधिक है और उससे मिथ्यात्व का अनुभाग अनन्तगुना अधिक है[३८६]। स्वामित्वानुगम की अपेक्षा ओघ का निर्देश है कि असयम से, संयमासयम से, सयम से, सासादन से और सम्यग्मिथ्यात्व से गिर कर जो प्रथम

---

३८१ "कसायपाहुडे सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्साणुभागो दसणमोहक्खव णमोत्तूण सव्वत्थ होदि त्ति परूविदत्तादो वा णव्वदे।" धवल पु० १२, वेदनाखण्ड, ४, २, ७, २०१, पृ० ११६

३८२ धवला पु. १२, पृ. २८४

३८३ महाबध, पुस्तक ५, अनुभागबन्धाधिकार, पृ० २८ से उद्धृत

३८४ "पचिदियतिरक्खेसु अपज्जत्तगेसु सव्वतिव्वाणुभाग मिच्छत्त। सादा० अणतगु०।" वही, पृ० २३१

३८५ वही, पृ० २३३

३८६. वही, पृ० २३४

३८७. वही, पृ० २४२

समयवर्ती मिथ्यादृष्टि है, वह मिथ्यात्व के अवक्तव्यबन्ध का स्वामी है[387]। असज्ञियो में मिथ्यात्व के अनुभागबन्धाध्यवसान स्थान सब से अधिक हैं[388]। मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्दृष्टि होने पर मिथ्यात्व के अनुभाग का सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति इन दोनों प्रकृतियों में सक्रमण हो जाता है, इसलिये उन के अनुभाग का सत्त्व पाया जाता है। मिथ्यात्वकर्म का उत्कृष्ट अनुभाग सत्कर्म आगे कहे जाने वाले सर्व पदो की अपेक्षा सब से तीव्र होता है। उस से अनन्तानुबन्धी लोभ कषाय का उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म अनन्त गुना हीन होता है। इस से अनन्तानु-बन्धी माया, क्रोध और मान कषाय के उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म उत्तरोत्तर विशेष-विशेष हीन होते हैं[389]।

मूल प्रश्न यह है कि मिथ्यात्व प्रकृति से स्थिति-अनुभाग बन्ध होता है या नहीं? 'पचसग्रह' में यह कहा गया है कि किस कर्म-प्रकृति के अनुभागबन्ध मे कौन प्रत्यय हेतुनिमित्तक है? जैसा कि कहा गया है-साता वेदनीय का अनुभाग बन्ध योग प्रत्यय से होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व, प्रत्ययक हैं[390]। दूसरे गुणस्थान में बन्ध से व्युच्छिन्न होने वाली पच्चीस और चौथे मे व्युच्छिन्नमान दश इस प्रकार पैंतीस प्रकृतियाँ द्विप्रत्ययक हैं। क्योकि इनका प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व की प्रधानता से और दूसरे से चौथे तक असयम की प्रधानता से बन्ध होता है। तीर्थंकर और आहारक द्विक के बिना शेष सर्व प्रकृतियॉ त्रिप्रत्ययक हैं। क्योकि उन का प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्व की प्रधानता से, दूसरे से चौथे गुणस्थान में असयम की प्रधानता से और आगे कषाय की प्रधानता से बन्ध होता है।

इस से स्पष्ट है कि मिथ्यात्व प्रकृति अपना स्वयं अनुभाग बन्ध करती है और उस के लिए अन्य प्रत्यय समर्थ नहीं है।

---

३८८. वही, पृ० ३८६

३८९. कसायपाहुडसुत्त, गा० २२, १४८-१५०, पृ० ९७१

३९०. सायं च उपपच्चइयो मिच्छो सोलह दुपच्चया पणतीसं।
सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहार वज्जा दु।। पंचसंग्रह, गा० ४८८

क्या कषाय के बिना स्थिति-अनुभागबन्ध नहीं होता?

यद्यपि एक समय के लिए ठहरना भी ठहरना, अवस्थान है, फिर भी जिनागम में द्वितीय आदि समयो की अवस्थान सज्ञा कही गई है। इसी प्रकार से मिथ्यात्व आदि भी बन्ध के कारण हैं। 'बन्ध' कहते ही प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग चारो ही आ जाते है, लेकिन सामान्यत 'कषाय' से स्थिति और अनुभाग बन्ध कहा जाता है। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि जो कषाय का अभाव होने से स्थिति बन्ध के अयोग्य है, वह कर्म रूप से परिणत होने के दूसरे समय मे ही अकर्मभाव को प्राप्त हो जाता है[३६१]। महाधवल सिद्धान्तशास्त्र की पॉचवीं पुस्तक मे अनुभागबन्ध के अधिकार की ही प्ररूपणा की गई है। उस मे कहा गया है कि मिथ्यात्व के उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव नियम से सोलह कषाय, नपुसक वेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा का बन्ध करता है। वह इन के उत्कृष्ट अनुभाग का भी बन्ध करता है और अनुत्कृष्ट अनुभाग का भी बन्ध करता है। यदि अनुत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध करता है, तो वह उन के उत्कृष्ट अनुभागबन्ध की अपेक्षा छह स्थान पतित अनुकृष्ट अनुभाग का बन्ध करता है[३६२]।

यद्यपि जिनागम की प्ररूपणा यही है कि कषाय का सद्भाव दसवे गुणस्थान तक है, उसके आगे नहीं है, इसिलये स्थिति अनुभागबन्ध भी दसवे गुणस्थान तक है। फिर, सातावेदनीय का बन्ध ग्यारहवे से ले कर तेरहवे गुणस्थान तक कैसे माना जाता है? आ० वीरसेन स्वामी कहते हैं कि आठो कर्मों के समयप्रबद्ध प्रदेशो से ईर्यापथ कर्म के समयप्रबद्ध प्रदेश सख्यातगुणे होते है, क्योकि वहाँ पर सातावेदनीय के सिवाय अन्य कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसलिये ईर्यापथ रूप से जो कर्मस्कन्ध आते हैं वे स्थूल हैं, अत उन्हे बादर कहा है।

---

३६१ "त जहा– कसायाभावेण ट्ठिदिबधाजोग्गस्स कम्मभावेण परिणयविदियसमए चेव अकम्मभावं गच्छतस्स जोगेणागदपोग्ग लक्खधस्स ट्ठिदिविरहिदएगसमए वट्टमाणस्स कालणिबधणअप्पत्तदंसणादो इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिदं।" धवला पु० १३, (५, ४, २४), पृ० ४८

३६२ महाबन्ध पु० ५, पृ० २ से उदधृत

ईर्यापथकर्म अनुभाग की अपेक्षा बादर होते है, ऐसा क्यों नहीं ग्रहण किया जाता है? नहीं, क्योंकि वहाँ पर कषाय का अभाव होने से अनुभागबन्ध नहीं पाया जाता। कार्मणस्कन्धोंके कर्म रूप परिणमन करने के समय में ही सब जीवों से अनन्त गुणा अनुभाग होना चाहिए, अन्यथा उनका कर्म रूप से परिणमन करना नहीं बन सकता है? समाधान करते हुए कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है, **क्योंकि वहाँ पर जघन्य अनुभाग स्थान के जघन्य स्पर्धक से अनन्त गुने हीन अनुभाग से युक्त कर्मस्कन्ध बन्ध को प्राप्त होते हैं– ऐसा समझ कर अनुभागबन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। इसलिये एक समय की स्थिति का निवर्तक ईर्यापथकर्मबन्ध अनुभाग सहित ही है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।** यही कारण है कि ईर्यापथकर्म स्थिति और अनुभाग की अपेक्षा 'अल्प' है यह कहने का भाव है।[३६३]

इसी प्रकार का प्रश्न सातावेदनीय की बन्धस्थिति के सम्बन्ध मे है कि यदि वह बन्ध टिकता नहीं है, तो उसका अवस्थान आत्मा के साथ कैसे है? यदि उसका फल अनुभाग रहित होता है, तो फिर उस का विपाक साता रूप कैसे हो सकता है? वास्तव मे कोई भी बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग के बिना नहीं होता। किन्तु विशेष

---

३६३ "अट्ठण्ण कम्माण समयपबद्धपदेसेहितो ईरियावहसमयपबद्धस्स पदेसा सखेज्जगुणा होंति, साद मोत्तूण अण्णेसिं बधाभावादो। तेण ढुक्कमाणकम्मक्खधेहि थूलमिदि बादरं भणिद। अणुभागेण बादरं ति किण्ण घेप्पदे? ण, कसायाभावेण अणुभागबधाभावादो। कम्मइयक्खंधाण कम्मभावेण परिणमणकाले सव्वजीवेहि अणतगुणेण अणुभागेण होदव्वं, अण्णहा कम्मभावपरिणामाणुववत्तीदो त्ति? ण एस दोसो, जहण्णाणु भागट्ठाणस्स जहण्णफद्दयादो अणंतगुणहीणाणुभागेण कम्मक्खंधो बधमागच्छदि त्ति कादूण अणुभागबधो णत्थि त्ति भण्णदे। तेण बंधो एगसमयट्ठिदिणिवत्तयअणुभागसहियो अत्थि चेव त्ति घेत्तव्वो। तेणेव कारणेण ट्ठिदि–अणुभागेहि इरियावहकम्ममप्पमिदि भणिदं। धवला पु. १३ (५, ४, २४), पृ. ४६

परिस्थितियों में विशिष्ट परिणामों के कारण जो अन्तर लक्षित होता है, उस का भी यथास्थान निरूपण किया गया है। इसलिये यह कहना कि सातावेदनीय में अनुभाग होता ही नहीं है—जिनागम के विपरीत है, क्योकि ऐसा मानने पर सातावेदनीय ऐसी सज्ञा ही नहीं बन सकती है। इसलिये यहाँ पर यहीं समझना चाहिए कि केवलीजिन के जो सातावेदनीय का बन्ध होता है, वह वहाँ पर स्थित असाता के अनुभाग से अनन्त गुणितहीन अनुभाग लिए हुए होता है। इस प्रकार कषाय रहित योग मात्र होने से ईर्यापथ कर्मबन्ध मे कर्म एक समय टिकते ही हैं, इसलिये तो कर्मबन्ध माना जाता है और उस अनुभाग के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, जिस के बिना फल—विपाक रूप साता—असाता आदि तत्सज्ञक नाम प्रचलित नहीं हो सकते।

फिर, ऐसा कोई सर्वथा नियम नहीं है कि जो बन्धक हैं, वे कषाय सहित ही होते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी कहते हैं कि अकषायी बन्धक भी हैं, अबन्धक भी हैं। क्योकि ग्यारहवे गुणस्थान से ले कर तेरहवे गुणस्थान तक के सयोगी जीवों के बन्धक होने पर भी अकषायत्व पाया जाता है और चौदहवे गुणस्थानवर्ती अयोगी जीवो के अबन्धक होते हुए भी अकषायत्व पाया जाता है[३६४]। इसी प्रकार मन—वचन—कायवर्गणा का आलम्बन ले कर जो योग होता है, उन सभी योगो को आस्रव नहीं कहते है। जिस समय सयोग केवली समुद्घात करते हैं, तब दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण रूप आत्मप्रदेशो का फैलना होता है, उस क्रिया स्वरूप जो योग है, वह कर्मबन्ध का कारण नहीं है। तब फिर प्रश्न यह है कि कर्मबन्ध का कारण क्या है? प्रश्न का समाधान करते हुए मुनि भास्करनन्दि कहते है कि यहाँ पर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषायो को आत्मप्रदेश—परिस्पन्द रूप योग मे अन्तर्भूत किया गया है, इसलिये अभिन्न रूप से 'स आस्रव.' (६,२)\ऐसा कहा गया है, मिथ्यात्वादि

---

३६४ 'अकसाई बंधा वि अत्थि, अबंधा बि अत्थि।।२०।। कुदो? सजोगाजोगेसु अकसायत्तस्सुवलभा।' 'सिद्धा अबंधा'।।२१।। धवला पु. ७ (२, १, २०—२१), पृ १०

नहीं। कारण यह है कि योग सयोगकेवली पर्यन्त सभी गुणस्थानों में रहता है, मध्य में इसका अभाव नहीं होता। अतः सर्वत्र व्यापक होने से मिथ्यात्वादि का अन्तर्भाव एक योग मे करके उसे ही आस्रव रूप कह दिया है[३६५]।

उपसंहार-

इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यही है कि सामान्यतः अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने पर भी मिथ्यात्व से कर्मबन्ध हो जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियो के बन्ध मे मिथ्या भाव के साथ ही अन्वय–व्यतिरेक की व्याप्ति है। अत मिथ्यात्व के बन्ध करने वाले का मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है। मिथ्यात्व की कर्म प्रकृतियो के बन्ध होने मे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि रूप परिणाम का होना अनिवार्य नहीं है। क्योकि जिस समय अनन्तानुबन्धी का उदय है, उस समय भी मिथ्यादृष्टि के बन्ध का मुख्य कारण मिथ्यात्व ही माना गया है। इसी कारण 'जयधवला' पु० १२, पृ० ३११ तथा धवला पु० ६, पृ० २४० पर दर्शनमोहनीय के उपशामक के अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय तक नियम से मिथ्यात्वनिमित्तक बन्ध कहा गया है।

यह भलीभाँति सिद्ध हो जाने पर कि मिथ्यात्व भी बन्ध का कारण है–यह प्रश्न उठे बिना नहीं रहता कि तब स्थूल ऋजुसूत्रनय से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण मात्र योग को और स्थितिबन्ध एव अनुभागबन्ध का कारण मात्र कषाय को क्यो कहा गया है? ऋजुसूत्रनय से मिथ्यात्व को बन्ध के कारणो मे क्यो नहीं गिनाया गया है? सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्रजी के शब्दो मे "समाधान यह है कि कषाय की वृद्धि और हानि के साथ तो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध की वृद्धि और हानि देखी जाती है, इसलिये तो ऋजुसूत्रनय से कषाय को

---

३६५. ननु *मिथ्यादर्शनादीनामपि कर्मागमद्वारत्वात् कथमिहावचनमिति चेन्मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषायाणा योगेऽन्तर्भावादिहाऽपृथग्वचनमिति ब्रूम'। योगस्य पुनरिह वचनं सयोगकेवलिपर्यन्तगुणस्थानव्यापकत्वाद् बोद्धव्य मिथ्यादर्शनादीनां तदभावात्।" तत्त्वार्थवृत्ति, ६, २, पृ० ३४८ से उदधृत*

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कहा (धवला पु० १२, पृ० २८८) है तथा योग की वृद्धि और हानि के साथ प्रदेशबन्ध की वृद्धि और हानि होती है, इसलिये ऋजुसूत्रनय से योग को प्रदेशबन्ध का कारण कहा (धवला पु० १२, पृ० २८८) है। फिर भी यह प्रश्न तो खडा ही रहता है कि जब ऋजुसूत्रनय से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण योग तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध का कारण कषाय है, तो फिर शेष क्या बचता है, जिसका कारण मानने के लिए मिथ्यात्व को स्वीकार किया जाए? समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति मे कारण दो प्रकार के होते हैं–एक सामान्य (व्यापक) कारण और दूसरा विशेष (व्याप्य) कारण। प्रकृत मे नैगमादि तीन नयो से बन्ध के जितने भी कारण कहे गए है, वे सब सामान्य कारण है तथा ऋजुसूत्रनय से जो कारण कहे गए हैं, वे विशेष कारण है। यहाँ मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियो के बन्ध मे मिथ्यात्व असाधारण कारण है, क्योकि जो भी उन का बन्ध करेगा, उस का मिथ्यादृष्टि होना अनिवार्य है, उन प्रकृतियो के बन्ध होने मे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि रूप परिणाम का होना अनिवार्य नहीं है[३६६]"

फिर, आचार्य विद्यानन्दी का कथन अत्यन्त स्पष्ट तथा सप्रमाण है। उन के ही शब्दो मे–"न चैवमेकैकहेतुक एव बन्ध पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्नुत्तर स्योत्तरस्य बन्ध हेतो सद्भावात्। कषायहेतुको हि बन्धो योगहेतुकोऽपि प्रमाद प्रमादहेतुकश्च योगकषायहेतुकोऽपि अविरति हेतुकश्च योगकषाय–प्रमादहेतुक प्रतीयते। मिथ्यादर्शनहेतुकश्च योगकषायप्रमादाविरति हेतुक सिद्ध।' (आप्तपरीक्षा, पृ॰ ६–७) अर्थात् कर्मका बन्ध एक–एक कारणजनित नहीं है, अपितु पूर्व–पूर्व के कारण के होने पर आगे के बन्ध के कारण अवश्य होते है। अत जो कषायहेतुक बन्ध है, वह योगहेतुक भी है और जो प्रमादहेतुक है, वह योग तथा कषायजनित भी है। जो मिथ्यादर्शनहेतुक है, वह योग, कषाय, प्रमाद और अविरति हेतुक भी समझ लेना चाहिए जो सिद्ध ही है।

---

३६६ सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन–ग्रन्थ, पृ० ३७५–३७६ से उदधृत

यह स्पष्ट ही है कि मिथ्यादृष्टि जीव चार मूल प्रत्ययों से तथा सासादनवाला मिथ्यात्व के बिना तीन मूल प्रत्ययों से कर्म–प्रकृतियों को बाँधते है[३९७]। यह एक नियम है कि सभी मूल प्रकृतियाँ, मोहनीय और आयु सभी जीवों के स्वमुख से ही पचती हैं अर्थात् स्वोदय द्वारा विपाक को प्राप्त होती हैं। शेष उत्तर प्रकृतियाँ स्वमुख से और परमुख से भी विपाक को प्राप्त होती है[३९८]। सभी आठ कर्मों मे से ज्ञानावरणीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध होने पर आयु के सिवाय अन्य शेष छह कर्मों का स्थितिबन्ध नियम से होता है। कारण यह है कि ज्ञानावरणीय कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध मिथ्यात्व मे होने से दर्शनावरणादि छह कर्मों का भी बन्ध होता है[३९९]। अनन्तानुबन्धी चतुष्क की अपेक्षा मिथ्यात्व से अनुभाग अनन्त गुना अधिक होता है[४००]। स्वामित्व की दृष्टि से सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, मिथ्यादृष्टि के जघन्य स्थितिबन्ध अन्त कोटाकोटि सागर प्रमाण होता है और उत्कृष्ट स्थिति बन्ध अपनी–अपनी उत्कृष्ट स्थितिप्रमाण होता है[४०१]।

प० जगन्मोहनलाल शास्त्री की पुस्तक "कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया" ने विद्वानो के मध्य कई नये प्रश्नो को जन्म दिया है। उदाहरण के लिए कुछ प्रश्न इस प्रकार है–

१ क्या मिथ्यात्व कषाय का कार्य करने मे अकिंचित्कर नहीं है?

२ क्या कषाय मिथ्यात्व का कार्य (अनन्त ससार) करने मे अकिंचित्कर नही है?

३ क्या मिथ्यात्व के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण बन्ध मे अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय की तरतमता कारण है?

४ मिथ्यात्व कर्मप्रकृति के उदय से तत्त्व विषयक अश्रद्धान होता है। उससे कर्म का बन्ध कैसे हो सकता है?

---

३९७ धवला पु ८, पृ १९, २४

३९८ पचसग्रह, गा० ४४९

३९९ महाबन्ध, भा० २, पृ० ७८ विशेषार्थ

४०० धवला पु १२, पृ ६३

४०१ महाबन्ध, भा २, पृ० १७६

५. स्थिति–अनुभागबन्ध कषाय से ही होता है, मिथ्यात्व से कथमपि नहीं होता है।
६ मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी की प्रकृति क्या है?
७. अनन्तानुबन्धी का विसयोजक मिथ्यात्व में आते ही प्रथम समय में अनन्तानुबन्धी का बन्ध करने लगता है, किन्तु एकावलि पर्यन्त अनन्तानुबन्धी का उदय न होने से तज्जनित भाव नहीं होते। अत प्रश्न यह है कि उस समय मिथ्यात्वादि प्रत्ययक प्रकृतियो का बन्ध मिथ्यात्व स्वय डालता है या अप्रत्याख्यानादि शेष कषाएँ डालती हैं?
८ यह तो सुनिश्चित है कि मोहनीय आठों कर्मों की स्थिति– अनुभाग डालता है, किन्तु क्या दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय अलग–अलग स्थिति–अनुभाग डालते हैं?
९ क्या मिथ्यात्व कषाय मे गर्भित है?
१० क्या मिथ्यात्व का बन्ध करने के लिए जीव का कषायवान होना आवश्यक है?
११ मिथ्यात्व के कारण कषाय उत्पन्न होती है या कषाय से कषाय उत्पन्न होती है?
१२ क्या बन्ध–प्रक्रिया में सर्वत्र बन्ध के लिए राग भाव होना अनिवार्य है?
१३ विसयोजना–काल मे किस कषाय से बन्ध होता है?

यथार्थ मे गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि "अकिंचित्कर" पुस्तक मे जो भूले की गई हैं, उन को ही प्रकारान्तर से "कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया" मे दुहराया गया है या समर्थन किया गया है। उन मे से प्रथम मुख्य बात यह है कि जब आचार्य वीरसेन स्वामी धवला पु० १२ वेदनाप्रत्यय अनुयोगद्वार मे नैगम, सग्रह और व्यवहारनय से मिथ्यात्व को भी बन्ध का हेतु कहते हैं, तब केवल ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा कथन को सम्यक् मान कर मिथ्यात्व के बन्धहेतुत्व को क्यो झुठलाया जा रहा है? कहा यह जाता है कि "तत्त्वार्थसूत्र" में कषाय को मुख्यता दी गई है। यदि मिथ्यात्व बन्ध का हेतु है, तो "स मिथ्यात्वात्" ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु "स कषायत्वात्" (तत्त्वार्थसूत्र, ८,२) यह क्यो कहा गया है? वास्तव में कषाय सहित जीव के लिए ऐसा कहा

गया है, न कि कषाय के लिए। पं० फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य के शब्दों में "उसका समाधान यह है कि वेदनाप्रत्यय अनुयोगद्वार में जो कथन किया गया है, वह सातों नयों की अपेक्षा कथन किया है। उस मे तो नैगम, सग्रह और व्यवहारनय से मिथ्यात्व को भी बन्ध के हेतुओ में लिया है। ऋजुसूत्रनय से कषाय और योग को प्रमुखता से बन्ध के हेतुओं मे लिया है। शेष तीन नयो से बन्ध के हेतु को अवक्तव्य कहा है[४०२]।" आश्चर्य तो यह है कि स्वय पण्डितजी एक ओर लिख रहे हैं कि "मिथ्यात्व चारों प्रकार के बन्ध मे कारण नहीं है, यह तथ्य स्वय सिद्ध है[४०३]।" फिर, प्रश्न ४ के उत्तर मे लिखते हैं–"यह यथार्थ है कि जीवो को अपने भावो के निमित्त से ही बन्ध होता है तथा भावो के बनने में मिथ्यात्व भी कारण है।" जब राग–द्वेष, मोह भावबन्ध के कारण हैं और भाव से बन्ध होता है, तब मिथ्यात्व को बन्ध का कारण नहीं मानना स्ववचन–बाधित कहा जाएगा। इसी प्रकार प्रश्न १ के उत्तर मे प॰ जगन्मोहनलालजी यह स्वीकार करते हैं–"अनन्त ससार मे जीव का भ्रमण इसी मिथ्या भाव के कारण है।" तथा–"ससार परिभ्रमण कराने मे मुख्यत मिथ्यात्व ही कारण है।" यह स्वीकार करने पर भी मिथ्यात्व से बन्ध नहीं मानते जो एक तरह से स्ववचन–बाधित है।
प्रश्न २ के उत्तर मे मिथ्यात्व को औदयिक भाव मानते हैं, लेकिन उसे बन्ध का कारण नहीं मानते हैं, जबकि आगम मे औदायिक भाव को (विशेषकर राग–द्वेष, मोह को) बन्ध का कारण कहा गया है। अन्य प्रश्नो के उत्तरो मे भी इसी प्रकार की विरुद्धता लक्षित होती है जो विचारणीय है।

यह तो सामान्य पाठक भी जानता है कि जिनागम के अनुसार प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध ये चार प्रकार के बन्ध कहे गए हैं। मिथ्यात्व इन चारों प्रकार के बन्ध का कारण नहीं है,

---

४०२ प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री अकिंचित्कर: एक अनुशीलन, पृ० ७७ से उद्धृत

४०३. प० जगन्मोहनलाल शास्त्री: कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया, द्वि. स पृ. १८

क्योंकि योग प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्ध का कारण है और कषाय स्थिति–अुनभाग बन्ध मे कारण है, फिर मिथ्यात्व पॉचवे या किसी अन्य बन्ध का कारण है क्या? और यदि है तो इन चारो मे से किसी–न–किसी बन्ध का कारण है, जिसका अपलाप किया जा रहा है।

इसी के साथ एक समस्या यह भी उत्पन्न हो गई है कि जब मिथ्यात्व से कर्म का बन्ध नहीं होता है, वह बन्ध का हेतु नहीं है, तो फिर अनन्त ससार कैसे होगा? कषाय से ससार का लाभ तो हो सकता है, किन्तु अनन्त ससार लाने वाला एक मात्र मिथ्यात्व ही है। जब मूल मे मिथ्यात्व ही नहीं रहा, तो समझ लीजिये कि ससार का किनारा आ गया। अत यह तो निश्चित है कि कषाय को सब कुछ मान लेने पर अनेक तरह की उलझने खडी हो जाती है। फिर, मिथ्यात्व गुणस्थान मे कोई भी समय ऐसा नहीं है जो मिथ्यात्व और कषाय के बिना हो।

योग अनुभाग का कारण नहीं है–यह बतलाने के लिए कहा गया है–"जोगापयडिपदेसे ठ्ठिदि अणुभागे कसायदो कुणदि (धवला पु० १२, पृ० ११७) अर्थात् योग से प्रकृति–प्रदेशबन्ध होता है और कषाय से स्थिति–अनुभाग बन्ध होता है, यह तो सर्वमान्य है। इसका निषेध किसने किया है? समझना तो केवल इतना है कि ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना योगप्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशाग्र रूप होती है। (धवला पु० १२, पृ० २८८) यह तो सत्य है, किन्तु आचार्य वीरसेन स्वामी स्वय प्रश्न करते हुए कहते हैं–यदि योग से प्रकृति बन्ध व प्रदेशबन्ध तथा कषाय से स्थिति बन्ध व अनुभागबन्ध होता है, तो प्राणाति पातादिको को प्रत्यय बतलाना कैसे उचित है? समाधान है कि बतलाना योग्य ही है। (धवला पु०१२, पृ०२८६) यदि मिथ्यात्व स्थितिबन्ध का कारण न हो और मात्र अनन्तानुबन्धी आदि कषाय स्थितिबन्ध की कारण हो, तो उक्त प्रकृतियो के उत्कृष्ट स्थितिबन्ध का स्वामी दूसरे गुणस्थान वाले को भी कहना चाहिए था, क्योकि अनन्तानुबन्धी का उदय दूसरे गुणस्थान मे भी है। फिर, द्वितीयादि गुणस्थानो मे बॅधने वाली कर्मप्रकृतियाँ भी इस मे सम्मिलित हैं, तो भी स्वामी मिथ्यादृष्टि को ही कहा गया है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनुभागबन्ध का भी स्वामी है। (महाबन्ध, भा ४, पृ.१८८) फिर, जिनागम मे यही कहीं नहीं लिखा है कि मिथ्यात्व का

बन्ध कषाय से होता है। यह भी कहीं उल्लेख नहीं है कि मिथ्यात्व का स्थिति–अनुभागबन्ध कषाय से होता है। यह भी नीति ध्यान मे रखने योग्य है कि 'चोटी पहाड़ को नहीं ढो सकती है"। यदि मिथ्यात्व का बन्ध अनन्तानुबन्धी से होने लगे, तो किसी भी जीव को सम्यग्दर्शन नहीं होगा, क्योकि प्रतिपक्ष सदैव उपस्थित रहता है।[४०४] आचार्य वीरसेन स्वामी का कथन है कि देशघाति सज्वलन से सर्वघाति प्रत्याख्यानावरण का उदय अनन्तगुना है, उससे अप्रत्याख्यानावरण का उदय अनन्तगुना है, उससे अनन्तानुबन्धी का उदय अनन्तगुना है और उससे अनन्तगुना उदय मिथ्यात्व का है[४०५]। अत कारण के स्तोक (अल्प) होने पर कार्य की अधिकता सम्भव नहीं है, क्योकि वैसा होने मे विरोध है।[४०६]

यह तो सूर्य की भॉति स्पष्ट है कि मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय कर्म हैं। जो कर्म है, उसका अपना स्वभाव है, परिणाम स्थिति है, प्रदेश घेरता है और उसका अपना स्वाद है। अत प्रत्येक कर्म चारों प्रकार के बन्ध का परिणाम है।

इसका भी जिनागम मे स्पष्ट उल्लेख है कि मिथ्यात्व के उदीरक के अनन्तानुबन्धी की उदीरणा होती भी है, नहीं भी होती है। आचार्य वीरसेन का कथन है–"मिथ्यात्व की उदीरणा करने वाला सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व का अनुदीरक तथा अनन्तानुबन्धी का कदाचित् उदीरक तथा कदाचित् अनुदीरक होता है, क्योकि अनन्तानुबन्धी कषायो का सयोग हो जाने पर सयोग के समय से ले कर आवली मात्र काल तक उदीरणा सम्भव नहीं है।"[४०७] इससे यही सिद्ध होता है कि अनन्तानुबन्धी भावो के बिना भी मिथ्यादृष्टि जीव पाए जाते हैं। जब उदय और उदीरणा की यह स्थिति है, तब अनन्तानुबन्धी तथा अप्रत्याख्यानादि से मिथ्यात्व का बन्ध कहना हास्यास्पद ही है।[४०८]

---

४०४ महाबन्ध, भा. ४, पृ. १८८
४०५. पचाध्यायी, श्लोक ६१६, ६२३
४०६ धवला पु. ११, पृ. २३४, २३६
४०७ धवला पु. १५, पृ. ७५
४०८. वही, पु. १५, पृ. ७७

यह भी एक प्रश्न है कि विसंयोजित अनन्तानुबंधी वाले जीव के मिथ्यात्व में आने पर एक आवली काल तक उसे अनन्तानुबधी का उदय नहीं होता। उस समय बँधनेवाले मिथ्यात्व–प्रत्यय कर्मों में स्थिति–अनुभाग कौन डालता है?

उत्तर यह है कि उस समय अनन्तानुबधी का उदय नहीं होने पर भी मिथ्यात्व प्रत्यय प्रकृति के बँधने में बाधा नहीं है। मिथ्यात्व प्रत्यय (मिथ्यात्व के निमित से बँधनेवाली प्रकृतियाँ) प्रकृतियाँ १६ हैं – १ मिथ्यात्व २ हुडकसस्थान ३ नपुसकवेद ४. असप्राप्तसहनन ५ एकेन्द्रिय ६ स्थावर ७–८–६ विकलत्रय १० आतप ११ सूक्ष्म १२ साधारण १३ अपर्याप्त १४. नरकगति १५ नरकगत्यानुपूर्वी १६ नरकायु (–गो क ६५, धवल ७/१०), परन्तु अध्रुवबन्धी (मिथ्यात्व के सिवाय पन्द्रह) ऊपर लिखी हुई प्रकृतियो मे से ही होती हैं। अत इन उपर्युक्त १६ प्रकृतियो का बन्ध एक साथ कभी भी सम्भव नहीं है। फिर, उक्त १६ प्रकृतियो मे से मात्र १ मिथ्यात्व ही ध्रुवबन्धी है। अत मुख्यत उस की अपेक्षा ही तथा गौणत शेष १५ प्रकृतियो की अपेक्षा कर्मबन्ध के कारण का निर्णय किया जाता है।

यदि यहा कहा जाए कि अनन्तानुबधी के निमित्त से बन्धनेवाली २५ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान वाली हैं । वे फिर मिथ्यात्वी की प्रथम आवली मे कैसे बँधेगी? क्योकि वहाँ उस आवली काल में २५ प्रकृतियो के बध की हेतुभूत अनन्तानुबधी तो उस समय नहीं है?

इस का समाधान यह है कि उस सम्यक्त्व से पतित प्रथम आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व परिणाम तथा असयत परिणाम – ये दोनो प्रत्यय उस समय हैं। उन से ही वह मिथ्यात्व सबधी १६, सासादन सबधी २५ तथा असयत सम्यक्त्व सबधी १० प्रकृतियो का बन्ध कर लेगा। कहा भी है–सासादने पचविंशति प्रकृतीना अविरति प्रत्यय प्रधानभूत । कथम्भूत? अविरतय कारणभूता। (–पच सग्रह/शतक गा ४८८ सुमतिकीर्ति की टीका) अर्थ–सासादन सबधी २५ प्रकृति के बन्ध का कारण अविरति है।

और अविरति का सद्भाव आवली कालवर्ती मिथ्यात्वी के भी होने से उस मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व, अविरति, शेष कषाये व योग से प्रथम

व द्वितीय गुणस्थान संबधी प्रकृतियों का बन्ध अनन्तानुबंधी के उदय बिना भी हो जाता है।

यदि यहा कहा जाए कि तो फिर अनन्तानुबंधी की तो अकिंचित्करता सिद्ध हुई, तो उसका उत्तर है कि नहीं, ऐसा नहीं है। अनन्तानुबधी कषाय स्थितिबन्ध की मूल कारणभूत कषायों में से ही एक कषाय (चौकड़ी) है। अत. उसके उदित होने पर मिथ्यात्व सबधी एव सासादन संबंधी आदि प्रकृतियो के स्थिति—अनुभाग में वृद्धि अवश्य होती है। इस प्रकार अनन्तानुबधी के अनुदय में भी मिथ्यात्वी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व योग से मिथ्यात्व व अनन्तानुबधी आदि का बन्ध कर लेगा।

निष्कर्ष-

इस सम्पूर्ण अध्ययन से यही फलित होता है कि संक्रमण के बिना बन्ध नहीं होता है। किन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का सक्रमण होने पर भी उस के परमाणु सम्यक्त्व प्रकृति रूप परिणमन करते हैं, अप्रत्याख्यानादि रूप नहीं।[४०९] यह भी एक नियम है कि प्रत्येक कर्म—प्रकृति स्वजातीय प्रकृतियो से ही बधती है और बन्ध—काल में सक्रमणकरण होता है।[४१०] यही नहीं, अनन्तानुबन्धी का विसयोजक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्व को छोड़ कर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है, तब उस के एक आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायो का उदय नहीं होता है।[४११] कहा भी है— "आवलियमेत्तकाल अणंतबधीण होइ ण उदओ। पचसंग्रह, गा० १०३ तथा धवला पु० ८, पृ० १३) अर्थात् एक आवली पर्यन्त अनन्तानुबन्धी कषायो के बिना भी मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। यही नहीं, सज्ञी मिथ्यादृष्टि ही उत्कृष्ट अनुभाग का स्वामी होता है।[४१२] अत इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी रहित चार कूट कहे गए हैं। यथा—

---

४०९ द्रष्टव्य है— गो० कर्मकाण्ड, गा० ४४३

४१० वही, गा० ४४४

४११. वही, गा० ४७८

४१२ "का सण्णिमिच्छाइट्ठिस्स सव्वसंकिलिट्ठस्स उक्कस्साणु—भागुदीरणासामित्त होदि त्ति णिच्छेयव्वं।"—जयधवला, पु.११, पृ.४८

अनन्तानुबन्धीरहित मिथ्यात्व गुणस्थान के कूट

२ भय–जुगुप्सा	१ भय	१ जुगुप्सा	०
हास्य–रति			
२२ अरति–शोक	२ २	२ २	२ २
१ १ १ वेद	१ १ १	१ १ १	१ १ १
कषाय ३ ३ ३ अनन्ता०	३ ३ ३३	३ ३ ३ ३	३ ३ ३ ३
रहित			
१ मिथ्यात्व	१	१	१

अत यह सिद्ध है कि मिथ्यात्व के उदय के बिना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, नरकायु का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है, क्योकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय के बिना नरकायु का बन्ध नहीं होता। फिर, आचार्य वीरसेनस्वामी का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि योग और कषाय आठ कर्मो के बन्ध मे कारण नहीं हो सकते। वस्तुत एक मिथ्या भाव ही व्यापक रूप से बन्ध का साधक दृष्टान्त कहा गया है। *(पचाध्यायी, उत्तरार्ध, १०३७–१०३८)*

कूटो की अपेक्षा विचार करने पर प्रथम गुणस्थान मे ४,५३,६०० कुल भग बनते है। इन सब मे पॉचो मिथ्यात्व सम्मिलित है। मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी रहित कूट मे ५ मिथ्यात्व, ५ इन्द्रिय तथा मन, ३–३ कषाय चार स्थानो पर, ३ वेद, हास्य, रति–अरति शोक रूप दो युगल और १० योगो का परस्पर मे गुणा करने पर (५x६x४x३x२x१०)=७,२०० भग होते है। अनन्तानुबन्धी सहित कूट मे ६, ३६० भग होते है। इन मे उक्त ७,२०० भग जोड देने पर १६,५६० ध्रुवगुण्य राशि हो जाती है। इस मे भय–जुगुप्सा सहित, भय–जुगुप्सा रहित, भय अथवा जुगुप्सा सहित ऐसे चार भग अध्रुवगुणाकार हैं। कायहिसा के ६३ भग है। अत १६,५६०x४x६३=४१,७३,१२० भग रूप बन्धप्रत्यय होते हैं। ये सभी भग मिथ्यात्व को प्रत्यय मानने पर ही बनते है। *(गो० कर्मकाण्ड, गा० ७६५, ७६६)*

कर्मबन्ध के बनने वाले ५५, ४८, १८ और १० प्रत्ययो मे सर्वत्र मिथ्यात्व प्रत्यय सम्मिलित है। अनन्तानुबन्धी का विसयोजन करने वाले

मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषायरहित ३ कूट और कहे गए है जो निम्नलिखित है।

मिथ्यात्वगुणस्थान के अनन्तानुबन्धी रहित ३ कूट

भय–जुगुप्सा रहित प्रथम कूट		भय–जुगुप्सा रहित	भय–जुगुप्सा सहित कूट
भय–जुगुप्सा	०	१–१	२
योग १०	१० मे से कोई एक योग	१० मे से कोई एक योग	१० मे से कोई एक योग
हास्य–रति	२–२	२–२	२–२
अरति–शौक			
वेद ३	स्त्री–पुरुष–नपुसक	स्त्री–पुरुष–नपुसक	स्त्री–पुरुष–नपुसक
कषाय १२	३ क्रोध ३ मान	३ क्रोध, ३ मान	३ क्रोध ३ मान
काय ६	३ माया ३ लोभ	३ माया ३ लोभ	३ माया ३ लोभ
इन्द्रिय व मन ६	१–१–१–१–१–१	१–१–१–१–१–१	१–१–१–१–१–१
मिथ्यात्व ५	१–१–१–१–१	१–१–१–१–१	१–१–१–१–१
बन्धप्रत्यय ४८	१०–११–१२–१३–१४–१५	११–१२–१३–१४–१५–१६	१२–१३–१४–१५–१६

इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि मिथ्यात्व की उदीरणा अनादि–अनन्त है, किन्तु अनन्तानुबन्धी की उदीरणा अन्तर्मुहूर्त मात्र है। क्योकि सभी प्रकार की कषाय का काल अन्तर्मुहूर्त है। *(धवला पु १५, पृ ६२)* फिर, मिथ्यात्व कर्म–प्रकृति तो अनन्तानुबन्धी को बॉधने मे समर्थ है, लेकिन अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व को बॉधने मे असमर्थ है। *(कसायपाहुड भा ४, पृ २४)* अतएव सभी दृष्टियो से तथा सभी प्रकार की स्थितियो मे मिथ्यादृष्टि जीव ही मिथ्यात्व भाव से मिथ्यात्व कर्म का बन्ध करता है।

अग्नि ईंधन मिलने पर जलती है और न मिलने पर शान्त हो जाती है, किन्तु मोहाग्नि परिग्रह रूप ईंधन मिलने पर तृष्णा से जलती है तथा परिग्रह के अभाव मे आकुलता–व्याकुलता रूप से जलती है।

-आत्मानुशासन, श्लोक ५६

कर्मबन्ध विषयक प्रश्नोत्तर

१ कर्म किसे कहते हैं?

जो आत्मा के वास्तविक स्वभाव को प्रकट नहीं होने देने मे निमित्त है, उसे कर्म कहते हैं। कर्म जीव–स्वभाव से विपरीत है। विभाव दशा को उत्पन्न करने वाला है। (प्रवचन॰ गा ११७, राजवार्तिक ५, २४)

२ बन्ध किसे कहते हैं?

जीव और कर्म के एकत्व रूप परिणाम को बन्ध कहते हैं।(धवला पु॰ १३, पृ॰ ७)

३ मूल मे बन्ध कितने तरह का है?

मूल मे बन्ध दो तरह का है–भावबन्ध और द्रव्यबन्ध। जिस चेतन भाव से कर्म बॅधता है, वह भावबन्ध है तथा कर्म और आत्मप्रदेशो का एकमेक होना द्रव्यबन्ध है। (द्रव्यसग्रह गा॰ ३२)

४ बन्ध के कितने भेद हैं?

बन्ध चार प्रकार का कहा गया है–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभागबन्ध। (तत्त्वार्थसूत्र, अ॰ ८, सूत्र ३)

५ प्रकृतिबन्ध किसे कहते है?

ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि आत्म स्वभाव के प्रकट न होने देने रूप ज्ञानावरणादि मूल स्वभाव रूप परिणमन होने का नाम प्रकृतिबन्ध है । (धवला पु॰ १२, पृ॰ ३०३)

६ प्रदेशबन्ध किसे कहते हैं?

एक क्षेत्र मे अवगाह को प्राप्त हुए कर्म के योग्य सादि, अनादि या उभय रूप पुद्गल–प्रदेश समूह को जीव के द्वारा मिथ्यात्वादि परिणामो से अपने सब प्रदेशो मे बॉधना प्रदेशबन्ध है। (गो॰ कर्मकाण्ड, गा॰ १८५)

७ स्थितिबन्ध किसे कहते है?

योग के वश से कर्म रूप परिणत हुए पुद्गल–स्कन्धो का जीव के साथ ठहरने के काल को स्थितिबन्ध कहते है। (धवला शास्त्रा॰ पु॰ ६, पृ॰ ७३)

८ अनुभागबन्ध किसे कहते हैं?

द्रव्य की शक्ति का नाम अनुभाग है। ज्ञानावरणादि के अज्ञानादि रूप फल देने की शक्ति विशेष को अनुभागबन्ध कहते हैं। परिणामो के अनुसार अनुभाग मे विभाग होता है। (धवला पु॰१३, पृ॰ ३४६)

९. मिथ्यात्व गुणस्थान किसे कहते हैं?

मिथ्यात्व–मोहनीय कर्मप्रकृति के उदय मे तत्त्वो मे अरुचि होना, आत्मा–परमात्मा का श्रद्धान नहीं होना तथा पर–पदार्थों में 'अह' एव एकत्व बुद्धि होना मिथ्यात्व गुणस्थान है। (गो. जीवकाण्ड, गा. १५–१८)

१० कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियाँ कितनी हैं?

ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की कुल प्रकृतियॉ १४८ है। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा. ३७–३८)

११ बन्ध योग्य कर्म–प्रकृतियाँ कितनी हैं?

पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, दो वेदनीय, छब्बीस मोहनीय, चार आयु, सडसठ नाम, दो गोत्र और पाँच अन्तराय की, कुल मिला कर १२० प्रकृतियॉ बन्ध के योग्य हैं। (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा.३५)

१२ करण कितने होते हैं?

करण दश होते है। उनके नाम हैं– बन्ध, उत्कर्षण, सक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति, निकाचित। (गो. कर्म., गा. ४३७)

१३ बन्धकरण किसे कहते हैं?

जीव के राग–द्वेष मोह परिणामो के निमित्त से कार्मण वर्गणा रूप परिणमने योग्य पुद्गल द्रव्य का ज्ञानावरणादि रूप परिणमन कर जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना बन्धकरण है। (कर्मप्रकृति, गा.११)

१४ कर्म आठ प्रकार के क्यो होते हैं?

वास्तव मे कर्म असख्यात होते हैं, किन्तु ससारी जीवों मे विभाव कार्य आठ प्रकार के देखे जाते हैं, इसलिये आगम मे आठ प्रकार के ही कर्म कहे गए हैं। (धवला पु. १२, पृ. २८७)

१५ क्या जड कर्म जीव को फल दे सकते हैं?

वास्तव मे कर्म जीव को फल नहीं देते, किन्तु जीव उन कर्मों का निमित्त पा कर तदनुसार फल पाता है, स्वाद या रस स्वय से प्राप्त करता है।

१६. कर्म किस कारण से बँधते हैं?

कर्म जीव के अशुद्ध अथवा शुभ, अशुभ भावो से बँधते हैं। (समयसार, गा. २६२)

१७. कर्म किन भावों से बँधते हैं?

आगम में जीव के पाँच प्रकार के भाव कहे गए है– औपशमिक,

क्षायोपशमिक, क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक। इन मे से केवल एक औदयिक भाव बन्ध का कारण कहा गया है? (धवला शा॰ पु॰ ७, पृ॰ ५)

१८ किस भाव के बिना क्या नहीं होते?

औपशमिक भाव के बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। क्षायोपशमिक भाव के बिना कोई छद्‌मस्थ नहीं होता। क्षायिक भाव के बिना पूर्ण दर्शन, ज्ञान–चारित्र किवा पूर्ण वीतरागता प्रकट नहीं होती। औदयिक भाव के बिना कोई ससारी नहीं होता। पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव द्रव्य नहीं होता। (धवला–सार, पृ॰ ३००)

१९ क्या सभी औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं? नहीं कुछ औदयिक *भाव बन्ध के कारण नहीं है। (धवला पु॰ ७, पृ॰ ६)*

२० प्रथम गुणस्थान किन कर्म–प्रकृतियो के उदय से होता है?

प्रथम गुणस्थान एक मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी चतुष्क के उदय से होता है।

२१ क्या कर्म जीव का परिणमन कराते है?

नही, जिस जाति के कर्म का उदय होता है, उस के निमित्त से जीव मे स्वय वैसे भाव उत्पन्न हो जाते है।

२२ कर्म का बन्ध मिथ्यात्व से होता है या कषाय से?

मिथ्यात्व से कर्म का बन्ध होता है, कषाय से कर्म बॅधते है तथा मिथ्यात्व और कषाय दोनो से भी कर्म का बन्ध होता है। (महाबन्ध पु॰ ४, पृ॰ १८५)

२३ मिथ्यात्व किसे कहते हैं?

विपरीत अभिनिवेश का नाम मिथ्यात्व है। (बृहद्‌द्रव्यसग्रह, गा॰ ३० एव ४८ की टीका)

२४ विपरीत अभिनिवेश कितने तरह का है?

विपरीत अभिनिवेश दो प्रकार का होता है–अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्यात्वजनित। दूसरे गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धीजनित विपरीत अभिनिवेश ही पाया जाता है, इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थान से उसे स्वतन्त्र कहा गया है। (धवला पु॰ १, पृ॰ १६५)

२५ अनन्तानुबन्धी किसे कहते हैं?

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ उनको कहते हैं, जिन के उदय

से जीव मे सम्यग्दर्शन तथा स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट नहीं होता है। (धवला पु॰ १, पृ॰ १६६)

२६ क्या अनन्तानुबन्धी द्विस्वभावी है?

हॉ, अनन्तानुबन्धी का स्वभाव दो प्रकार का है। एक तो अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्र इन दोनो की प्रतिबन्धक मानी गई है-- यही उसकी द्विस्वभावता है। (धवला पु॰ १, पृ॰ १६६)

२७ मिथ्यात्व का बन्ध अन्य कर्म--प्रकृति से नही होता, इसका आधार क्या है?

केवल मिथ्यात्व ही नही, सभी मूल प्रकृतियॉ अपने--अपने उदय में उत्पन्न हो कर स्थितिबन्ध की विशेष कारण बनती है तथा अपनी प्रकृति रूप शक्त्यश से फलदान मे कारण होती है। (धवला पु॰११, पृ॰३१०)

२८ क्या कर्मबन्ध के समय बद्ध कर्म--स्कन्धो मे अनुभागबन्ध हो जाता है?

कर्म के उदय तथा उदीरणा के समय अपनी प्रकृति रूप से शक्त्यश फल देने मे समर्थ होने से उसी समय अनुभागबन्ध भी हो जाता है।

२९ कर्मबन्ध का सामान्य नियम क्या है?

कर्म--प्रकृति की उदय--उदीरणा बिना कर्म का बन्ध नही होता। क्योकि कर्म से सम्बन्ध करने वाला जीव का भाव कर्म के उदय होने पर ही निमित्त हो सकता है।

३० स्वोदय से बॅधने वाली प्रकृतियॉ कौन--सी है?

अपने ही उदय मे जिसका बन्ध हो, उसे स्वोदयी प्रकृति कहते हैं। उदाहरण के लिए--जिस के मिथ्यात्व का उदय है, उस के ही मिथ्यात्व का बन्ध होता है।

पॉच ज्ञानावरण, पॉच अन्तराय, चार दर्शनावरण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मणशरीर, निर्माण, अगुरुलघु, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और मिथ्यात्व ये २७ प्रकृतियॉ स्वोदय से बॅधती हैं। जिसके मिथ्यात्व का वर्तमान में उदय है, उसके मिथ्यात्व का बन्ध होगा; शेष अन्य २६ प्रकृतियो का बन्ध नहीं होगा। (पंचसग्रह, गा॰ ७२)

३१ मिथ्यात्व कर्म--प्रकृति स्वोदय मे ही क्यो बॅधती है?

केवल मिथ्यात्व ही नहीं, सभी २७ कर्म--प्रकृतियॉ स्वोदयी होने से

अपनी–अपनी प्रकृति के उदय मे अपने ही उदय से बँधती हैं। स्वोदयी का अर्थ ही यह है कि उस प्रकृति को अन्य कर्म–प्रकृति नहीं बाँध सकती है। (धवला पु॰ ८, पृ॰ ४४)

३२ निरन्तर कितने कर्मों का बन्ध होता है?

प्रथम से नौ गुणस्थान वाले जीव आयु कर्म को छोड कर निरन्तर सात कर्मों का बन्ध करते है।

३३ बन्धक कौन हैं?

प्रथम गुणस्थान से ले कर तेरहवे गुणस्थान तक के जीव अर्थात् सयोगकेवली तक बन्धक है।(धवला शास्त्राकार पु॰ ७, पृ॰ १)

३४. प्रति समय जीव के कितना कर्मबन्ध होता है?

प्रत्येक समय मे जीव के एक समयप्रबद्ध प्रमाण कर्मों का बन्ध होता है और एक समयप्रबद्ध ही खिरता है। (कसायपाहुड, भा॰ १०, पृ॰ २)

३५ कर्म की क्षपणा का साधन क्या है?

निज स्वभाव के अवलम्बन के बिना कर्म–क्षपणा नहीं होती।

३६ प्रथम गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो का उदय होता है?

प्रथम गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो का उदय होता है।

३७ प्रथम गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो की उदय–व्युच्छित्ति होती है?

पहले गुणस्थान मे मिथ्यात्व, आताप, सूक्ष्म, साधारण अपर्याप्त–इन पॉच प्रकृतियो की उदय–व्युच्छिति होती है।(गो॰ कर्म॰, गा॰ २६५)

३८ कर्म की रचना कैसे होती है?

कर्म के उदय मे राग–द्वेष, मोह भाव होते हैं जो भावकर्म रूप हैं। भावकर्म के निमित्त से विस्रसोपचय रूप से स्थित पुद्गल–परमाणु कार्मण–वर्गणा रूप को प्राप्त करते है।

३९ वर्गणाएँ कितने प्रकार की होती है?

तेईस प्रकार की कर्म–वर्गणाएँ कही गई है। उन मे एक प्रदेशी पुद्गल द्रव्य वर्गणा परमाणु स्वरूप होती है। २३ वर्गणाओ के नाम है–अणुवर्गणा, सख्याताणुवर्गणा, असख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्राह्य वर्गणा भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कार्मणवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तरनिरन्तर वर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा,

शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। (धवला पु॰ १४, पृ॰ ११७)

४० अविभागप्रतिच्छेद किसे कहते हैं?

शक्ति के अविभागी अश को अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। (लब्धिसार, पृ॰ ६)

४१ वर्ग किसे कहते हैं?

अविभाग प्रतिच्छेदी सर्व जघन्य गुण वाले प्रदेशो की ऐसी राशि को वर्ग कहते हैं। (लब्धिसार, पृ॰ ६)

४२ वर्गणा किसे कहते हैं?

सम गुण वाले सम सख्या तक वर्गों के समूह को या समान गुण वाले परमाणु–पिण्ड को वर्गणा कहते है। (लब्धिसार, पृ॰ ६)

४३ विस्रसोपचय किसे कहते हैं?

पॉच शरीरो के परमाणु–पुद्गलो के मध्य जो पुद्गल स्निग्धादि गुणों के कारण पॉचो शरीरो के पुद्गलों मे सलग्न हैं, उनकी विस्रसोपचय सज्ञा है। (धवला पु॰ १४, पृ॰ ४३०)

४४ मिथ्यात्व का दूसरा नाम क्या है?

मिथ्यात्व का अन्य नाम दर्शनमोह है। इसका पूरा नाम मोहनीय मिथ्यात्व कर्म है।

४५ दर्शनमोहनीय कर्म की स्थिति प्रधान क्यो कही गई है?

इस मे सब कर्मों की स्थिति सगृहीत है, इसलिये इसे प्रधान कहा गया है।

४६ भाव किसे कहते हैं?

पदार्थ के परिणाम को भाव कहते हैं। (धवला पु॰ ५, पृ॰ १८७)

४७ भाव किस से होता है?

कर्मों के उदय से, क्षय से, क्षयोपशम से, कर्मों के उपशम से अथवा स्वभाव से भाव उत्पन्न होता है। (धवला पु॰ ५, पृ॰ १८८)

४८ स्थान क्या है?

भाव की उत्पत्ति के कारण को स्थान कहते हैं। गति, लिंग, कषाय, मिथ्यादर्शन, असिद्धत्व, अज्ञान, लेश्या और असंयत–ये औदयिक भाव

के आठ स्थान है। (धवला पु॰ ५, पृ॰ १८६)

४६ असिद्धत्व किसे कहते है?

आठ कर्मों के सामान्य उदय को असिद्धत्व कहते हैं। (धवला पु॰ ५, पृ॰ १८६)

५० स्थान किसे कहते है?

कर्म–प्रकृतियो की अवस्था विशेष कों स्थान कहते है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ६, पृ॰ ४०)

५१ मोहनीय कर्म के बन्धस्थान कितने है?

मोहनीय कर्म के दश बन्ध स्थान है—बाईस प्रकृतिक, इक्कीस प्रकृतिक, सतरह प्रकृतिक, तेरह प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, पॉच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक बन्धस्थान। (धवला शास्त्राकार पु॰ ६, पृ॰ ४४ तथा–पचसग्रह गा० २४७)

५२ सक्लेश किसे कहते है?

असाता वेदनीय आदि के बन्ध योग्य परिणाम को सक्लेश कहते है। (धवला शास्त्राकार, पु॰ ६, पृ॰ ६०)

५३ क्या कषाय की वृद्धि सक्लेश का लक्षण नहीं है?

नही, यदि कषाय की वृद्धि को सक्लेश का लक्षण माना जाए, तो स्थितिबन्ध की वृद्धि नहीं बन सकती है। यही नही, विशुद्धि के काल मे वर्द्धमान कषाय वाले जीव के भी सक्लेश का प्रसग आता है। इसी प्रकार कषायो की वृद्धि के काल मे साता का बन्ध भी पाया जाता है। (धवला शास्त्राकार, पु॰ ६, पृ॰ ६१)

५४ उदय और उदीरणा मे क्या अन्तर है?

जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण, उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थिति के क्षय होने पर अपना–अपना फल देते है, उन कर्मस्कन्धो की 'उदय' सज्ञा है। नहीं पके हुए कर्मों के पकाने का नाम 'उदीरणा' है। अत उदयावली के बाहर स्थित कर्मस्कन्धो को अपकर्षण करके फल देने वाला किया जाता है। इस प्रकार उदय सहज है और उदीरणा बलात् है—यही इन दोनो मे अन्तर है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ६, पृ॰ १०७)

५५ निषेक किसे कहते हैं?

एक समय मे जितने कर्म–परमाणु उदय मे आते हैं, उनके समूह को निषेक कहते हैं। (धवला पु॰ ११, पृ॰ २३७)

५६ उदयावली किसे कहते हैं?

वर्तमान समय से लगा कर एक आवली मात्र काल मे उदय मे आने योग्य निषेको को उदयावली कहते है। (लब्धिसार, पृ॰ २८)

५७ आबाधाकाल किसे कहते है?

कर्म का बन्ध होने के पश्चात् जब तक कर्म उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता, तब तक का समय आबाधाकाल कहा जाता है। (गो॰ कर्मकाण्ड, गा॰ ६१४)

५८ विसयोजना कौन करता है?

विसयोजना सम्यग्दृष्टि जीव करता है। (जयधवला पु॰ २, पृ॰ २१८)

५६ विसयोजना किन प्रकृतियो की होती है?

विसयोजना केवल अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ की होती है। (जयधवला पु॰ ५, पृ॰ २०८)

६० विसयोजना किसे कहते है?

अनन्तानुबन्धी चतुष्क के स्कन्धो को पर प्रकृति रूप (१२ कषाय और ६ नोकषाय) परिणमा देने को विसयोजना कहते हैं। (धवला पु॰ १५, पृ॰ २१६ तथा कसायपाहुड भा॰ २, पृ॰ २१६)

६१ क्या मिथ्यात्व का बन्ध अन्य गुणस्थान मे हो सकता है?

नहीं, मोहनीय कर्म मे मिथ्यात्व का बन्ध प्रथम गुणस्थान मे होता है।

६२ क्या अन्य गुणस्थानो मे मिथ्यात्व का उत्कर्षण हो सकता है?

नहीं, मिथ्यात्व के बन्ध के अभाव मे बाद मे उत्कर्षण भी नही हो सकता है।

६३ बन्ध और मोक्ष के कारण कौन हैं?

मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चार बन्ध के कारण है। सम्यग्दर्शन, सयम, अकषाय और अयोग ये चार मोक्ष के कारण है।

६४ कषाय किसे कहते हैं?

चारित्र रूप आत्म–परिणामो की मलिनता का नाम कषाय है। (राजवार्तिक ६, ७)

६५ योग और योगस्थान मे क्या अन्तर है?

आत्मप्रदेशों के हलन–चलन का नाम योग है और योग की विविधता के कारण तर–तम रूप से प्राप्त हुए स्थान का नाम योगस्थान है। (तत्त्वार्थसूत्र ६,२ प. फूलचन्द्र शास्त्री, पृ. १८७)

६६ भावबन्ध और भावास्रव मे क्या अन्तर है?

भावबन्ध मे कर्मबन्ध की निमित्तता है और भावास्रव मे कर्मास्रव की निमित्तता है। (द्रव्यसग्रह, गा. ३३ की टीका)

६७ बन्धन के भेद तथा स्वरूप क्या है?

बन्धन के चार भेद हैं–बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। कोई किसी से बँधता है, इससे बन्ध की सिद्धि होती है। जो बाँधता है, वह बन्धक है। जो बॅधता है, वह बन्धनीय है। बँधने वाली वस्तु कई तरह से बॅधती है। बन्ध के विविध प्रकार ही बन्ध–विधान को सिद्ध करते हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है– द्रव्य का द्रव्य के साथ तथा द्रव्य और भाव का क्रम से जो सयोग और समवाय होता है, वह बन्ध कहलाता है। द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार के बन्ध के कर्ता हैं जो बन्धक कहलाते है। बन्ध के योग्य पुद्गल द्रव्य बन्धनीय कहा जाता है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से बन्ध के भेदो को बन्धविधान कहते हैं। (धवला पु. १४, पृ. २)

६८ युति और बन्ध मे क्या भेद है?

एकीभाव का नाम बन्ध है और समीपता या सयोग का नाम युति है। (धवला पु. १३, पृ. ३४८)

६६ आत्मा के साथ कर्म के एकत्त्व या एकाकार हो जाने का क्या अर्थ है?

आत्मा का तथा कर्मस्कन्धो का एकक्षेत्रावगाह होना, उन मे निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होना ही एकत्व है। दो द्रव्य या भावो मे सम्बन्ध होने पर भी यह निश्चय है कि प्रत्येक द्रव्य अपने आप मे स्वतन्त्र है।

७० निबन्धन किसे कहते हैं?

जो द्रव्य सम्बद्ध है अर्थात् जिस द्रव्य मे बँधे हुए हैं, वह निबन्धन है। (धवला पु. १५, पृ.१)

७१ बध्यमान किसे कहते हैं?

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के द्वारा कर्म स्वरूप को प्राप्त

कार्मण पुद्गलस्कन्ध बध्यमान कहा जाता है। (धवला पु॰ १२, पृ॰ ३०३)

७२ अनन्तरबन्ध किसे कहते हैं?

कार्मण वर्गणा स्वरूप से स्थित पुद्गलस्कन्धों का मिथ्यात्वादिक प्रत्ययों के द्वारा कर्म स्वरूप से परिणत होने के प्रथम समय में जो बन्ध होता है, उसे अनन्तरबन्ध कहते है। (धवला पु॰ १२, पृ॰ ३७०)

७३ परम्पराबन्ध किसे कहते हैं?

बन्ध होने के द्वितीय समय से ले कर कर्म रूप पुद्गल स्कन्धों और जीवप्रदेशो का जो बन्ध होता है, उसे परम्पराबन्ध कहते हैं। (धवला पु॰ १२, पृ॰ ३७०)

७४ निरन्तरबन्धी प्रकृतियाँ किसे कहते हैं?

जो कर्म–प्रकृतियाँ जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक निरन्तर बँधती हैं, वे निरन्तर बन्धी प्रकृतियाँ कही जाती हैं। (धवला पु॰ ८, प्रस्तावना, पृ॰ १)

७५ ध्रुवबन्धी प्रकृतियॉ कितनी हैं?

ध्रुवबन्धी प्रकृतियॉ ४७ है जो इस प्रकार हैं–

पॉच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, भय, जुगुप्सा, तैजस तथा कार्मण शरीर, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण एव पॉच अन्तराय। (धवला पु॰ ८, पृ॰ १७)

७६ निरन्तरबन्धी प्रकृतियॉ कितनी हैं?

ध्रुवबन्धी सैतालीस प्रकृतियो के अतिरिक्त चार आयु, तीर्थंकर, आहारकशरीर और आहारकशरीरांगोपाग इन सब को मिला कर ५४ निरन्तरबन्धी प्रकृतियाँ हैं। (धवला पु॰ ८, पृ॰ १६)

७७ सादिबन्ध किसे कहते हैं?

एक बार जिस कर्म–प्रकृति के व्युच्छेद होने पर जीव उपशम श्रेणी में पहुँच गया था, वहाँ से भ्रष्ट हो कर पुन उस प्रकृति का बन्ध करना सादिबन्ध है। (धवला पु॰ ८, प्रस्तावना, पृ॰१)

७८ अनादिबन्ध किसे कहते हैं?

अनादि से ले कर गुणस्थान की अपेक्षा व्युच्छित्ति काल तक जिन प्रकृतियो का बन्ध होता आ रहा है, उसे अनादिबन्ध कहते हैं। (धवला पु॰ ८, प्रस्तावना, पृ॰१)

७६. दर्शनमोह के निमित्त से कौन गुणस्थान होता हैं?

दर्शनमोह के निमित्त से प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं। (गो. जीवकाण्ड, गा. १२ की टीका)

८० चारित्रमोह के निमित्त से कितने गुणस्थान होते हैं?

चारित्रमोह के निमित्त से पॉचवें से बारहवे तक के गुणस्थान होते है। (गो. जीवकाण्ड, गा. १२ की टीका)

८१ योग के निमित्त से कौन गुणस्थान होते है?

योग के निमित्त से तेरहवॉ और चौदहवाँ गुणस्थान होता है।

८२ समयप्रबद्ध किसे कहते हैं?

एक समय मे जितने कर्म परमाणु और नोकर्म परमाणु बॅधते है, उन सब के समूह को समयप्रबद्ध कहते है। (गो. जीवकाण्ड, गा. २४५ टीका)

८३ बन्धापसरण किसे कहते हैं?

प्रकृतिबन्ध और स्थितिबन्ध का क्रम से घटना बन्धापसरण कहलाता है। (लब्धिसार, गा. ६२–६४, पृ. ४७–५३)

८४ प्रथम गुणस्थान मे जीवो की सख्या कितनी है?

प्रथम गुणस्थान मे जीवो की सख्या अनन्तानन्त है।

८५ प्रथम गुणस्थान का काल कितना है?

प्रथम गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल अनादि अनन्त है। भव्य जीव की अपेक्षा अनादि सान्त तथा विशिष्ट जीव की अपेक्षा सादि–सान्त है।

८६ मोक्षमार्ग किस गुणस्थान से प्रारम्भ होता है?

मोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। (तत्त्वार्थवार्तिक ६, ३६)

८७ चतुर्थ गुणस्थान का काल कितना है?

चतुर्थ गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल तैतीस सागर है।

८८ दर्शनमोहनीय के कितने भेद है?

बन्ध की अपेक्षा दर्शनमोहनीय कर्म एक प्रकार का है, किन्तु सत्त्व की अपेक्षा उसके तीन भेद हैं– सम्यक्त्व, सम्यक्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व। (धवला शास्त्राकार पु. ६, पृ. १९)

८९. चारित्रमोहनीय के कितने भेद हैं?

चारित्रमोह के मुख्य दो भेद हैं– कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। कषायवेदनीय के सोलह भेद (अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, सज्वलन, क्रोधमान–माया–लोभ के भेद से) तथा नोकषाय वेदनीय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री–पुं–नपुसकवेद ये नौ भेद है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ६, पृ॰ २०)

९० उत्कर्षण किसे कहते हैं?

जीव के परिणामो के निमित्त से कर्मों की स्थिति तथा फल देने की शक्ति का बढना उत्कर्षण है। (धवला पु॰ १०, पृ॰ ५२)

९१ अपकर्षण किसे कहते है?

जीव के परिणामो के निमित्त से कर्मों की स्थिति और फल देने की शक्ति का घटना अपकर्षण है। (धवला पु॰ १०, पृ॰ ५३)

९२ उत्कर्षण–अपकर्षण किन गुणस्थानो मे होता है?

उत्कर्षण–अपकर्षण प्रथम गुणस्थान से तेरहवे गुणस्थान तक होता है।

९३ सक्रमण किसे कहते है?

बन्ध रूप कर्म–प्रकृति का सजातीय प्रकृति के रूप मे परिणमना सक्रमण कहलाता है। (जयधवला पु॰ ८, पृ॰ २)

९४ मिथ्यात्व की मुख्यता से कितनी प्रकृतियो का बन्ध होता है?

मिथ्यात्व की मुख्यता से सोलह प्रकृतियो का बन्ध होता है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ८, पृ॰ २२)

९५ मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो का बन्ध होता है?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे ११७ प्रकृतियो का बन्ध होता है। (सहजसुख–साधन, पृ॰ ३१२)

९६ मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो की उदय–व्युच्छित्ति होती है?

प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान मे नाम कर्म की चार (आताप, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त) तथा मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियो की उदय–व्युच्छित्ति होती है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ८, पृ॰ ५)

९७. मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो का सत्त्व है?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे १४८ प्रकृतियों का सत्त्व है। (गो. कर्मकाण्ड, गा. ३३३)

९८ मिथ्यात्व गुणस्थान में कितने भावो की व्युच्छित्ति है?

मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व और अभव्यत्व इन दो भावो की व्युच्छित्ति है। गो. कर्मकाण्ड, गा. ८३२)

९९ व्युच्छित्ति किसे कहते हैं?

निश्चय नय से अपने–अपने गुणस्थान के अन्तिम समय में बन्ध का विनाश होता है, लेकिन व्यवहार नय से चरम समय के अनन्तर अगले समय मे बन्ध का नाश होता है। (गो. कर्मकाण्ड, गा. ९४ टीका)

१०० मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितने भाव होते हैं?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे चौतीस भाव होते है। (धवला–सार, पृ. ३०२)

१०१ मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितने भावो का अभाव है?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे उन्नीस भावो का अभाव है।

१०२ मिथ्यात्व का आस्रव किस गुणस्थान तक है?

मिथ्यात्व का आस्रव केवल मिथ्यात्व गुणस्थान मे ही होता है।

१०३ मिथ्यात्व गुणस्थान में कितने आस्रव होते हैं?

मिथ्यात्वगुणस्थान मे पचपन आस्रव होते हैं।

१०४ लेश्या किसे कहते हैं?

कषाय से रगी हुई योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। (धवला पु. १, पृ. १४९)

१०५ लेश्या मे योग की प्रधानता है या कषाय की?

लेश्या मे योग की प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है। इसका कारण यह है कि वह योग की प्रवृत्ति है, कषाय की नहीं है। (धवला पु. १, पृ. १४९)

१०६ संसार का मूल कारण मिथ्यात्व है या कषाय ?

ससार का मूल कारण मिथ्यात्व है, क्योकि मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है। (भगवती आराधना, गा. ११)

१०७ करण किसे कहते हैं?

जीव के परिणाम को करण कहते हैं। (धवला पु. १, पृ. १८०)

१०८ आचार्य वीरसेन स्वामी ने मिथ्यात्व को लेश्या मे क्यो गिनाया है?

आचार्य वीरसेन स्वामी ने मिथ्यात्व को बन्ध का कारण होने से उसे लेश्या मे गिनाया है। (धवला पु. ७, पृ. १०५)

१०६. क्या मिथ्यात्व भावलेश्या है?

हाँ, आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार मिथ्यात्व को भावलेश्या कहते हैं। ऐसा कहने में कोई विरोध नहीं आता। (धवला शास्त्रा० पु. ७, पृ. ५३)

११०. प्रत्यय किसे कहते हैं?

मूल मे 'प्रत्यय' शब्द का लक्षण कारण है, किन्तु आगम में यह आस्रव, बन्ध के निमित्त के रूप मे प्रयुक्त होता है। (धवला पु. ८, पृ. १६, पचसग्रह, गा. ७७)

१११ क्या मिथ्यात्व स्थिति, अनुभागबन्ध का विशेष प्रत्यय है?

आचार्य वीरसेन स्वामी के मत मे मिथ्यात्व स्थिति और अनुभाग का विशेष प्रत्यय है। (धवला शास्त्रा. पु. ८, पृ. २६ तथा जयधवला भा. ३, पृ. ३)

११२ कषाय किस से होती है?

कषाय औदयिक भाव से होती है। (जयधवला पु. १, पृ. ३१६)

११३ विभक्ति किसे कहते हैं?

'विभक्ति' शब्द का अर्थ है—विभाग, भेद, पृथक् भाव। (जयधवला पु. १, पृ. ५)

११४ कर्मबन्ध किसे कहते हैं?

बँधे हुए कर्मो के परस्पर सक्रान्त हो कर बँधने को कर्मबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया मे सक्रमण के द्वारा कर्म—प्रकृतियो मे स्थिति आदि मे परिवर्तन हो कर जीव के साथ जो एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होता है, उसे कर्मबन्ध कहते हैं। (धवला पु. ८, पृ. २ तथा जयधवला पु. १, पृ. ८३)

११५. अकर्मबन्ध किसे कहते हैं?

जो कार्मण वर्गणाएँ मिथ्यात्व आदि के निमित्त से आकृष्ट हो कर एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध को प्राप्त होती हैं, वह बन्ध है। जीव सम्बन्धी इस नवीन कर्मबन्ध को अकर्मबन्ध कहा जाता है। (जयधवला पु. १, पृ. ८३)

११६. अनन्तानुबन्धी चतुष्क की मिथ्यात्व में उत्पत्ति कैसे हो जाती हैं?
मिथ्यात्व के उदय होने से कर्मवर्गणास्कन्धो के अनन्तानुबन्धी चतुष्क रूप मे परिणमन करने मे कोई विरोध नहीं आता है। (जयधवला पु॰ ४, पृ॰ २४)

११७ कर्मों मे कितने प्रकार की स्थिति होती है?
कर्मों मे दो प्रकार की स्थिति होती है—एक शक्तिस्थिति और दूसरी व्यक्तिस्थिति। प्रकट होने का नाम व्यक्ति है और सभावना शक्ति है।

११८ मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति का जघन्य और उत्कृष्ट काल कितना है?
मिथ्यात्व की उत्कृष्ट प्रदेशविभक्ति का जघन्य और उत्कृष्ट काल एक समय है। (कसायपाहुडसुत्त, गा॰ २२, चूर्णिसूत्र ६६)

११९ मिथ्यात्व को वेदनीय क्यो कहा गया है?
मिथ्यात्व भी वेदा जाता है, अनुभव किया जाता है, इसलिये वह वेदनीय है। (जयधवला पु॰ १२, पृ॰ ३०८)

१२० आवली और उच्छ्वास किसे कहते हैं?
असख्यात समय की एक आवली और सख्यात आवलिसमूह का एक उच्छ्वास होता है। (गो जीवकाण्ड, गा॰ ५७४)

१२१ स्तोक और लव किसे कहते हैं?
सात उच्छ्वासो का एक स्तोक तथा सात स्तोको का एक लव होता है। (गो॰ जीवकाण्ड, गा॰ ५७४)

१२२ घड़ी और मुहूर्त किसे कहते हैं?
साढे अडतीस लवो की एक नाली या घडी होती है और दो घडी का एक मुहूर्त होता है। (गो जीवकाण्ड, गा ५७५)

१२३ समय किसे कहते हैं?
आकाश के प्रदेश के अतिक्रमण—प्रमाण अविभागी काल को समय कहते हैं। (तिलोयपण्णत्ति, भा॰ २, पृ॰ ८२)

१२४ जीवतत्त्व मे कितने भाव होते हैं?
जीवतत्त्व में एक परमपारिणामिक भाव ही होता है। (धवलासार, पृ॰ ३०१)

१२५ पाप—प्रकृतियो मे सबसे अधिक निकृष्ट पापप्रकृति कौन है?
मिथ्यात्वप्रकृति समस्त पापप्रकृतियो मे निकृष्ट तथा दु खो की वृद्धि करने

वाली ८२ अशुभ प्रकृतियों में से एक पापप्रकृति है। (जयधवला पु. ३, पृ. २४३)

१२६ मिथ्यात्व प्रकृति का लाभ कैसे होता है?

मोह, विषयासक्ति, देव–शास्त्र–गुरु की निन्दा तथा कुदेवादिक में प्रीति आदि खोटे परिणामों से मिथ्यात्व का लाभ होता है।

१२७ मिथ्यात्व का अभाव कैसे होता है?

मिथ्यात्व के अभाव का मूल उपाय भेद–विज्ञान है। (समयसार, गा. ७४)

१२८ लेश्या किसे कहते हैं?

जो कर्मों से आत्मा को लीपती है, उसे लेश्या कहते हैं। (धवला पु. १, पृ. १५०)

१२९ मिथ्यात्व को प्रधानता क्यों दी जाती है?

दर्शनमोहनीय कर्म मे सब कर्मों की स्थिति संगृहीत है, इसलिये उसे प्रधानता दी जाती है। धवला पु. ४, पृ. ४०३)

१३० मिथ्यात्व प्रकृति स्वोदय से ही क्यों बँधती है?

मिथ्यात्व के उदय मे ही ऐसा स्वभाव है। स्वोदयी सभी प्रकृतियाँ ऐसी हैं। (धवला पु. ८, पृ. ४४)

१३१ मिथ्यात्व को अनन्त क्यों कहा जाता है?

क्योकि मिथ्यादर्शन अनन्त संसार का कारण है। (सर्वार्थसिद्धि, ८,९)

१३२ प्रकृति का क्या अर्थ है?

आत्मा और कर्म के अनादिसम्बन्ध को प्रकट करने वाला रागादि रूप परिणमने का स्वभाव।

१३३ मिथ्यात्वप्रकृति के कितने स्पर्धक होते हैं?

मिथ्यात्व प्रकृति के अनुभाग शक्ति के १२० स्पर्धक कहे गए हैं। (गो कर्मकाण्ड, गा १८१ टीका तथा धवला पु० १२, पृ० ७५)

१३४ स्पर्धक किसे कहते हैं?

वर्गणाओ के समूह को स्पर्धक कहते है।

१३५ स्वभाव किसे कहते हैं?

अन्तरग कारण को स्वभाव कहते हैं। (जयधवला पु ५, पृ ३८७)

१३६. उदय किसे कहते हैं?

कर्मों के फल देने के सामर्थ्य से उत्पन्न होना सो उदय है। (पचास्तिकाय, गा॰ ५६ तात्पर्यवृत्ति)

१३७ निधत्ति क्या है?

जो कर्मप्रदेशाग्र अन्य प्रकृति मे बदलने के लिए या उदय में देने के लिए सम्भव नहीं है, वह निधत्ति है। (धवला पु॰ १६, पृ॰ ५१६)

१३८. निकाचित किसे कहते हैं?

जो प्रदेशाग्र अपकर्षण–उत्कर्षण तथा अन्य प्रकृति रूप परिणमाने के लिए एव उदय मे देने के लिए शक्य नहीं है, उसे निकाचित कहते हैं।

१३९. मिथ्यात्व के बन्ध के क्या कारण हैं?

जो जीव अरहन्त, सिद्ध और उनकी प्रतिमा, निर्ग्रन्थ गुरु, वीतराग धर्म, जिनवाणी और मुनिसघ का अवर्णवाद करता है, उसे मिथ्यात्व का तीव्र अनुभागबन्ध होता है, जिससे वह अनन्त ससार मे परिभ्रमण करता है। (गो कर्मकाण्ड, गा॰ ८०२)

१४० क्या कर्म फल दिए बिना नहीं झड़ते ?

कर्म स्वरूप से या पररूप से फल दिए बिना नहीं झडते। अनुदय रूप कर्म–प्रकृतियो का प्रत्येक निषेक एक समय तक स्वरूप से और दूसरे समय मे पर प्रकृति रूप से रह कर तीसरे समय मे अकर्मभाव को प्राप्त होता है, यह नियम है। (कसायपाहुड, भा॰३, पृ॰ २४५)

१४१ क्या मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व गुणस्थान मे अनन्तानुन्धी के बिना रह सकता है?

हाँ, एक आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायो का उदय न होने पर भी मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व को प्राप्त होता है। (पचसग्रह, गा १०३ तथा गो कर्मकाण्ड, गा॰ ४७८)

१४२· मिथ्यात्व गुणस्थान मे कितनी प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होती है?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे एक मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति होती है। (गो. कर्मकाण्ड, गा. २६२)

१४३. यह जीव परतन्त्र क्यों है?

ससारी जीव अनादिकालीन कर्म के सम्बन्ध से परतन्त्र है। (जयधवला, भा १६, पृ॰ १८७)

१४४ राग–द्वेष किस के निमित्त से उत्पन्न होते हैं?

राग–द्वेष रूप पर्याय को उपस्थित करने वाला मोह है।। (जयधवला, भा. १६, पृ १८७)

१४५. बन्ध मे किस की प्रधानता है?

बन्ध मे स्थिति तथा अनुभागबन्ध की प्रधानता है, क्योकि अनुभाग ही सुख–दु ख रूप फल का निमित्त होता है। (राजवार्तिक, ६,३)

१४६ मिथ्यात्व प्रकृति का उत्कृष्ट अनुभागसत्कर्म किस के होता है?

उत्कृष्ट सक्लेश के द्वारा मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अनुभागबन्ध करने वाले सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।(कसायपाहुडसुत्त, पृ॰ १६०, गा २२ चूर्णिसूत्र)

१४७ दर्शनमोहनीय कर्म सत्त्व की दृष्टि से कितने प्रकार का है?

दर्शनमोहनीय कर्म सत्त्व की अपेक्षा तीन प्रकार का है। विपरीत अभिनिवेश, मूढ़ता और सन्देह ये उसके चिन्ह हैं। (धवला शास्त्राकार पु॰ ६, पृ॰ २०)

१४८ विशुद्धि किसे कहते हैं?

साता के बन्ध योग्य परिणाम को विशुद्धि कहते हैं। (धवला शास्त्राकार पु ६, पृ. ६०)

१४६ बन्ध के कारण क्या हैं?

मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग, ये चार बन्ध के कारण हैं। (धवला शास्त्राकार, पु ७, पृ.४)

१५१ बन्धरूप कार्य किस से उत्पन्न होता है?

उपर्युक्त चारों बन्ध के समूह से बन्धरूप कार्य उत्पन्न होता है। (धवला शास्त्राकार पु ७, पृ. ७)

१५२ जीव मिथ्यादृष्टि कैसे होता है?

मिथ्यात्व कर्म के उदय से (मिथ्या भाव करके) जीव मिथ्यादृष्टि होता है। (धवला शास्त्राकार पु ७, पृ॰ ५६)

१५३. योग कौन–सा भाव है?

योग औदयिक भाव है। यह शरीर नामकर्म के उदय से होता है। (धवला शास्त्राकार पु॰ ७, पृ॰ ३८)

१५४ मिथ्यात्त्व गुणस्थान में कितने जीवसमास होते हैं?

मिथ्यात्व गुणस्थान में चौदह जीवसमास होते हैं। (गो जीवकाण्ड, गा. ६९६)

१५५ क्या अनुभागबन्ध उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले के ही होता है?

हाँ, उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि के होता है। (गो कर्मकाण्ड, गा.१६४)

१५६ उदीरणा विषयक उत्कृष्ट अनुभागबन्ध की क्या व्यवस्था है?

निगोद से निकल कर सज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक के उत्कृष्ट अनुभाग की उदीरणा के अभाव में भी उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम होने से उत्कृष्ट अनुभागबन्ध हो जाता है। (जयधवला पु ११, पृ ४८)

१५७ अशुभ प्रकृतियाँ कितनी हैं?

असाता आदि ८२ अशुभ प्रकृतियाँ हैं। (कर्मकाण्ड, गा १६४)

१५८ मिथ्यात्व प्रकृति का मिथ्यात्व से ही बन्ध क्यो होता है?

मिथ्यात्व प्रकृति का अन्यत्र उदय नहीं होता। इसलिये प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यादृष्टि के ही बन्ध होता है। (धवला शास्त्र० पु ६, पृ ४५)

१५९. क्या मिथ्यात्व प्रकृति का बन्ध कषाय से नहीं हो सकता?

नहीं, सत्ताईस प्रकृतियाँ स्वोदयबन्धी है, उन मे से मिथ्यात्व भी एक है। मिथ्यात्व प्रकृति के अपने उदय मे बँधने से, कषाय से नहीं बँधती है। (पचसग्रह, गा. ७२–७३)

१६० क्या मिथ्यात्व की बन्धवुच्छित्ति होने पर–उदयव्युच्छित्ति होती है?

नहीं, मिथ्यात्व के बन्ध और उदय का नाश एक साथ होता है? (पचसग्रह, गा ६६)

१६१ प्रथम गुणस्थान मे किन प्रत्ययो की व्युच्छित्ति होती है?

मिथ्यात्व गुणस्थान मे पॉच मिथ्यात्व रूप प्रत्ययो की व्युच्छित्ति होती है। (गो कर्मकाण्ड, गा ७७० की टीका "मिच्छे पणमिच्छत्त")

१६२ कर्म कहाँ से आते है?

जिस प्रदेश में आत्मा है, उसी मे एकप्रदेशी अनेक पुद्गल द्रव्य भी हैं जो राग–द्वेष मोह के निमित्त से कर्म रूप बन जाते हैं। इसलिये कहीं बाहर से नहीं आते है। 'आते हैं' यह कहना व्यवहार है।

१६३ आस्रव किसे कहते हैं?

पुण्य–पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहते हैं (राजवार्तिक, ६,२)

१६४ जितने परिणाम हैं, उतने गुणस्थान क्यों नहीं हैं?

जितने परिणाम हैं, यदि उतने ही गुणस्थान माने जाये, तो व्यवहार नहीं चल सकता है। इसलिये द्रव्यार्थिकनय के अनुसार नियत (निश्चित) गुणस्थान कहे गए है। (धवला पु॰१, पृ॰१८४)

१६५ योग किसे कहते हैं?

नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय युक्त आत्म–प्रदेशो में कर्मों को ग्रहण करने की शक्ति का नाम योग है। (गो॰ जीवकाण्ड, गा॰ २१६)

१६६ गुणस्थान किसे कहते हैं?

योग और मोह की तर–तमता का नाम गुणस्थान है। (गो॰ जीवकाण्ड, गा॰३)

१६७ गुणस्थान कितने होते हैं?

गुणस्थान चौदह होते है। उनके नाम इस प्रकार हैं–

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरणसयत, अनिवृत्तिकरणसयत, सूक्ष्मसाम्परायसयत, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

१६८ चेतना किसे कहते हैं?

आत्मा की जिस शक्ति से पदार्थों का प्रतिभास होता है, उसे चेतना कहते है। (समयसार, गा॰ २६८–६६ आत्मख्याति टीका)

१६६ क्या वास्तव में कर्म जीव के गुणों का घात करता है?

उपचार से ऐसा कहा जाता है। वास्तव मे न तो कर्म जीव के गुणो का घात करता है और न जीव कर्म के गुणो का घात करता है। (अमितगति योगसार, ६, ४६)

१७० कर्म जीव को किस प्रकार फल देते हैं?

जिस प्रकार ज्वलन्त प्रभा वाले सूर्य को बादल ढँक लेते हैं, उसी प्रकार अतिशय विमल आत्मा के स्वरूप को मलिन कर्म ढँक देते हैं। (योगसार, ३,१३)

१७१ 'मोह' मे मिथ्यात्व है या नहीं?

मुख्य रूप से मिथ्यात्व को ही मोह कहते हैं। (पंचास्तिकाय, गा॰ १३१

तात्पर्यवृत्ति टीका)

१७२ कषाय मे मिथ्यात्व गर्भित है या नहीं?

आचार्य वीरसेनस्वामी ने 'मोह' मे कषाय और मिथ्यात्व दोनो का सम्मिलित उल्लेख किया है। (धवला, पु॰ १२, पृ॰ २८३)

१७३. बन्ध के प्रत्ययो मे मिथ्यात्व प्रधान क्यो है?

वास्तव मे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का विस्तार बन्ध के कारणो मे पाया जाता है। मूल मे वस्तु—स्वरूप मे बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भाव पाया जाता है। (पचाध्यायी, उत्तरार्द्ध, १०३७—३८)

१७४ बन्ध टालने का उपाय क्या है?

सम्यक्ज्ञान से ही बन्ध का निरोध होता है—(समयसार, गा॰७१)

१७५ किस गति के जीव कितने समय बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं?

मनुष्य गति का जीव गर्भ से ले कर आठ वर्ष के बाद, नरक—देवगति के जीव जन्म से तीन अन्तर्मुहूर्त के बाद, कर्मभूमि के तिर्यंच दो या डेढ़ माह बाद, भोगभूमि के मनुष्य छह माह बाद और तिर्यंच तीन दिन के बाद सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते है। (निर्जरासार, पृ॰ १६५)

१७६ क्या सम्मूर्छन जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है?

हॉ, सम्मूर्छन जीव के भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। (धवला पु॰ १३, पृ॰ १३६)

१७७. कषाय और योग मे क्या अन्तर है?

परिणामो का चचल होना कषाय है और प्रदेशो का चचल होना योग है। (चर्चा—सग्रह, पृ॰ २६४)

१७८ सब से अधिक प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध कौन करता है?

सभी प्राणियो मे सब से अधिक प्रकृतियों का उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि करता है। (गो० कर्मकाण्ड, गा० २१४ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका टीका)

१७९. दर्शनमोह का बन्ध कितने प्रकार का है?

दर्शनमोह के बन्ध मे एक मिथ्यात्व का ही प्रकार है। (सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका)

१८० मिथ्यादृष्टि के कितने सत्त्व—स्थान हैं?

मिथ्यादृष्टि के अठारह सत्त्व—स्थान होते हैं। (गो० कर्मकाण्ड, गा० ३६२)

विद्वानों की दृष्टि में

"कर्मबन्ध की प्रक्रिया मे मिथ्यात्व और कषाय की भूमिका" ग्रन्थ को पढ कर यह विश्वास होता है कि यह पुस्तक "मिथ्यात्व बन्ध मे अकिंचित्कर है" इस मिथ्या मान्यता का करारा उत्तर होगा। इस प्रकार के जितने भी प्रकाशन अभी तक प्रकाशित हुए है, उन सब मे यह ठोस प्रमाणो के कारण अपना विशेष स्थान रखती है। कर्मबन्ध विषयक प्रश्नोत्तर दे देने से अनेक चर्चाओ का समाधान भी इस मे मिल जायगा। पुस्तक विशेष रूप से अध्ययन और मनन करने योग्य है।

—प॰ प्रकाश हितैषी शास्त्री, दिल्ली

सम्पादक "सन्मति–सन्देश"

इस पुस्तक मे कर्मबन्ध के सम्बन्ध मे उठने वाले समस्त प्रश्नो का समाधान आगम के परिप्रेक्ष्य मे विस्तार के साथ किया गया है। लेखक ने वस्तु–विषय का जो प्रतिपादन किया है, उस से चारो अनुयोगो के गहन अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा दीर्घकालीन अनुभव का परिचय मिलता है। आशा है स्वाध्यायशीला समाज के साथ ही विद्वत्वर्ग का यथार्थ ज्ञान बढाने मे यह विशेष सहायक होगी।

—प॰ भुवनेन्द्रकुमार जैन शास्त्री, सागर

मिथ्यात्व बन्ध मे कारण है– इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते। चारो अनुयोगो मे ससार का स्वाग भरने वाला, परिणामो मे सक्लेश व दुर्बुद्धि उत्पन्न करने वाला, मनोरथ–पूर्ति हेतु सभी दोषो का तथा खोटे देव, शास्त्र, गुरु का आश्रय कर कल्पना से पर मे अपनत्व बुद्धि करने वाला मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के कारण ही ससारी जीव अनन्त काल तक चौरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण करता है। अत मिथ्यात्व के अभाव के लिए निज शुद्धात्मा का आश्रय करने वाला ही आत्म–कल्याण कर सकता है।

—प॰ ज्ञानचन्द जैन, विदिशा

माननीय डॉ॰ देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री ने अपनी पैनी प्रज्ञा से मिथ्यात्व और कषाय के कार्यों पर अत्यन्त कुशलता पूर्वक प्रकाश डाला है। पुस्तक आद्योपान्त पठनीय एव मननीय है।

—प॰ अभयकुमार जैनदर्शनाचार्य, जयपुर

यह पुस्तक सम्पूर्ण जिनागम के आलोक मे लिखी जाने से मिथ्यात्व रूपी भवार्णव मे फँसे हुए जीव नामक जहाज को सकटो से पार होने के लिए उत्तम नौका के समान है। प॰ श्री देवेन्द्रकुमारजी ने चारो अनुयोगो के लगभग एक सौ ग्रन्थो और छह सौ से अधिक उद्धरणो के आधार पर जो नवनीत निकाल कर विद्वत्समाज के लिए प्रस्तुत किया है, उसका मात्र स्वाद भी प्रत्येक आत्म–हितैषी भव्य जीव के लिए सन्मार्गप्रदर्शक है। कर्मबन्ध के क्षेत्र मे मिथ्यात्व का शून्य प्रतीत होना भी तीव्र मिथ्यात्व के प्रबल उदय का ही द्योतक है। अत जिन को जिनवाणी की आसादना का भय है, वे इस पुस्तक का आद्योपान्त पठन कर अपनी रुचि सम्यक् बना कर अवश्य आत्महित मे लगे।

(प॰) मन्नूलाल जैन एडवोकेट, सागर

प्रस्तुत पुस्तक जिनागम के सैद्धान्तिक विधान को समझने के लिए दीपक के समान है। आगम के अनेक ग्रन्थो के आधार पर मिथ्यात्व और कषाय के कार्यों का सफल अकन इस मे किया गया है। सभी मनीषी विद्वानो के लिए यह मनन करने योग्य व ग्राह्य है।

—डॉ॰ सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली

आदरणीय प॰ देवेन्द्रकुमारजी की यह पुस्तक करणानुयोग का वह दस्तावेज है जो तलस्पर्शी स्वाध्याय तथा सूक्ष्म विवेचन लिए हुए है। आशा है विद्वज्जगत् मे यह समादरणीय एव सर्वमान्य होगी।

—प॰ अशोककुमार गोयल शास्त्री, दिल्ली

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१ अनगारधर्मामृत – प॰ आशाधर
२ अर्थप्रकाशिका – प॰ सदासुख
३ अष्टसहस्री – आ॰ विद्यानन्दि (स ज्ञानमती माताजी)
४ अकिंचित्कर एक अनुशीलन – प॰ फूलचन्द्र सिद्धान्ताचार्य
५ अध्यात्मकमलमार्तण्ड – (स॰ प॰ दरबारीलाल कोठिया)
६ आत्मानुशासन – आचार्य गुणभद्र
७ आप्तपरीक्षा – आ॰ विद्यानन्दि
८ इष्टोपदेश – आचार्य पूज्यपाद
९ करणदशक – प॰ जवाहरलाल जैन
१० कर्मप्रकृति – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
११ कसायपाहुड भा॰१–४, ७–१३ – आचार्य गुणधर, भारतवर्षीय दि॰ जैन सघ, चौरासी, मथुरा
१२ कसायपाहुडसुत्त (स॰ प॰ हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री), श्री वीरशासनसघ, कलकत्ता
१३ कार्तिकेयानुप्रेक्षा – स्वामी कार्तिकेय
१४ गुरु गोपालदास बरैया स्मृतिग्रन्थ
१५ गोम्मटसार जीवकाण्ड भा॰ १ २ – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१६ गोम्मटसार कर्मकाण्ड भा॰ १,२ – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
१७ गोम्मटसार कर्मकाण्ड (स॰ आदिमती माताजी)
१८ चर्चा सग्रह – ब्र॰ प॰ राजमल
१९ जयधवला भा॰ १ ३ १०–१२ – आचार्य वीरसेनस्वामी
२० जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश भा॰ १, ४ – जिनेन्द्र वर्णी
२१ तत्त्वज्ञानतरगिणी – भटटारक ज्ञानभूषण
२२ तत्त्वानुशासन – आ॰ नागसेन
२३ तत्त्वार्थराजवार्तिक – आ॰ अकलकदेव
२४ तत्त्वार्थवृत्ति – भास्करनन्दि
२५ तत्त्वार्थसूत्र – गृद्धपिच्छाचार्य (स॰ प॰ फूलचन्द्र शास्त्री)
२६ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक – आचार्य विद्यानन्दि
२७ त्रिकाण्डशेष कोष – पुरुषोत्तमदेव
२८ द्रव्यसग्रह – नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव
२९ धवला (षट्खण्डागम) पु १–१६ – आचार्य वीरसेनस्वामी
३० नयचक्र – माइल्ल धवल, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
३१ पचसग्रह – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
३२ पचाध्यायी – राजमल्ल

३३ पचास्तिकाय – आचार्य कुन्दकुन्द
३४. पचास्तिकाय (तात्पर्यवृत्ति सहित) सटीक–आ० जयसेन
३५ पाइअ–सद्दमहण्णव – प० हरगोविन्ददास शेठ, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, १९६३
३६ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अनु०) – प० मुन्नालाल-राधेलीय, सागर
३७ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (स०) – प० रमेशचन्द्र बाझल, इन्दौर
३८ प्रवचनसार – आचार्य कुन्दकुन्द
३९ प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति सहित – आचार्य जयसेन
४० बृहत् जैन शब्दार्णव – प० बिहारीलाल जैन
४१ बृहद्द्रव्यसग्रह – ब्रह्मदेवसूरि
४२ भगवती आराधना – आ० शिवार्या
४३ भावदीपिका – प० दीपचन्द कासलीवाल
४४ महाबन्ध भा० २,४,५,८ – भारतीय ज्ञानपीठ
४५ मूलाचार – वट्टकेरस्वामी
४६ मोक्षमार्गप्रकाशक – पण्डितप्रवर टोडरमल
४७ योगसार–प्राभृत – आचार्य अमितगति
४८ रत्नकरण्डश्रावकाचार – आचार्य समन्तभद्र
४९ लघुतत्त्वस्फोट – आचार्य अमृतचन्द्र
५० लब्धिसार – नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
५१ वाचस्पत्यम् कोश
५२ विश्वलोचन कोश
५३ समयसार – आचार्य कुन्दकुन्द
५४ समयसारकलश – आचार्य अमृतचन्द्र
५५ समयसार तात्पर्यवृत्ति टीका, ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर
५६ समयसार नाटक – प० बनारसीदास
५७ समयसार–प्रवचन पु० ८–क्षु० मनोहरलालजी वर्णी
५८ सर्वार्थसिद्धि – आ० पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९५५
५९ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भाषा–टीका–प० टोडरमल
६० सिद्धान्ताचार्य प० कैलाशचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन – ग्रन्थ
६१. सिद्धान्ताचार्य प० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ
६२ क्षपणासार (स०) – प० जवाहरलाल जैन
६३ तुलसी – प्रज्ञा (पत्रिका), लाडनू (राजस्थान)
६४ सन्मति – सन्देश (पत्रिका), दिल्ली

कर्म का बन्ध कैसे?

जीव के अशुद्धता का वेदन होना ही कर्मबन्ध है और शुद्धात्म–स्वभाव का स्वसवेदन निर्बन्ध होने का उपाय है। अत शुद्धनय ग्रहण करने योग्य है। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दो मे–

इदमेवात्र तात्पर्य हेय शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्धएव हि।।

समयसारकलश, १२२

अर्थ– तात्पर्य यही है कि शुद्धनय छोडने योग्य नही है, क्योकि उसके नहीं छोडने से बन्ध नही होता और उस के छोडने से नियम से बन्ध होता है।

***

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहो अपना कल्यान।
मोह-महामद पियो अनादि, भूल आप को भरमतवादि।।

- छहढाला

अनादि काल से यह जीव मोह रूपी मदिरा–पान करने के कारण अपने आप को भूल गया है और भ्रम के कारण तरह–तरह के विवाद करता है। इसलिये हे भव्यजीव! यदि आत्मकल्याण चाहते हो, तो आत्महित की बात को स्थिर मन हो कर सुनो। मिथ्यात्व मदिरा के समान हे इसलिये सर्वप्रथम उस का त्याग करना चाहिए।

***

जिस प्रकार पति–पत्नी के रागात्मक सम्बन्ध के बिना दुनियादारी नही चलती, वैसे ही मिथ्यात्व और कषाय के बिना ससार की उत्पत्ति नही होती। इस मे मिथ्यात्व की भूमिका सम्मोहन की है, प्रेरणा की है और कषाय की भूमिका विशेष रूप से रजना की है। मिथ्यात्व पति है और कषाय पत्नी है। दोनो की भूमिका महत्त्वपूर्ण तथा ससार के जनक एव जननी के समान है।